

You deserve the best...

ISO 9001 Certified

I
A
S



P
C
S

Committed to Excellence

IAS/PCS एवं अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी

BOOK REVIEW

(Oct. to Dec. — 2017)

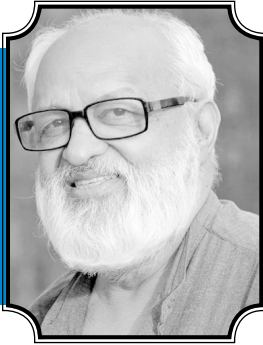


629, Ground Floor, Main Road,

Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-09

Ph.:- 7042772062/63 9654349902

<http://www.gsworldias.com> <http://www.facebook.com/gsworlda> gsworldias@gmail.com



रसिया : व्हाट एवरीवन नीड्स टू नॉ

लेखक : टिमोदी ज. कॉल्टन

प्रो. पुष्पेश पंत

भूगोल की दृष्टि से रूस संसार का सबसे बड़ा देश है। एक महाशक्ति के रूप में उसके पास हजारों परमाणु बम आदि का जखीरा है। मगर आज जो राज्य अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर रूस के नाम से सक्रिय है, वह 20वीं सदी के मध्य वाले उस सोवियत संघ की दुबली-पतली, थकी-हारी काया या धुंधली परछाईं जान पड़ता है, जो दूसरी महाशक्ति अमेरिका को शीतयुद्ध के युग में लगातार चुनौती देने में समर्थ था और जिसने नाजी-जर्मनियों, फासीवादी इतालवियों और सैनिक साम्राज्यवादी जापानियों की धुरी को नष्ट करने में मित्र राष्ट्रों के संयुक्त मोर्चे में सदस्य के रूप में प्रमुख भूमिका निभाई थी।

यूरोपीय इतिहास की विडंबनाओं में एक यह है कि रूस का शुमार सदियों से एक महाशक्ति के रूप में तो किया जाता रहा है, परन्तु उसे दूसरी बड़ी शक्तियां अपने समकक्ष नहीं समझती थीं। इसका एक कारण तो यह था कि यूरोप के अन्य देश रूस को आधा यूरोपीय ही मानते थे क्योंकि उसकी असली पहचान यूरेशियाई थी। यू तो रूस की आबादी का बड़ा हिस्सा ईसाई धर्म को मानने वाला था, परन्तु वह रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय की मुख्यधारा में कभी नहीं रहे। ग्रीक ऑर्थोडॉक्स और सीरियन ईसाई समुदायों का प्रभाव वहां ज़्यादा था। नस्ली दृष्टि से

रूस की बहुसंख्यक आबादी स्लाव थी, जिसका बहुत सीधा रिश्ता पश्चिमी यूरोप के एंग्लो सैक्सन, ट्यूटॉनिक, गौल या लेटिन वंशजों से नहीं था। अजनबीपन को और भी गहरा करने के लिए भाषा का फर्क स्वरूप भी जिम्मेदार रहा है। रूसी भाषा के अक्षर रोमन अक्षरों की तरह नहीं लिखे जाते, कई बार आईने में उनका उल्टा प्रतिबिंब लगते हैं। मगर सबसे बड़ी दिक्कत शायद इस कारण पेश आती रही है कि रूस यूरोप के दूसरे पश्चिमी हिस्सों में नवजागरण, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रांति से अछूता रहा। जारशाही मध्ययुग की दकियानूसी से जकड़ी रही और वहां जन्मजात दैवीय अधिकार से शासन करने वाले जार निरंकुश ही रहे, जबकि ब्रिटेन में क्रांति के बाद राजशाही निरंकुश नहीं रही और भले ही संसदीय शासन प्रणाली पूरी तरह जनतांत्रिक रही हो, वह क्रमशः जवाबदेह बनने को मजबूर हुई। अमेरिका और फ्रांस की क्रांति ने गणराज्यों को जन्म दिया जो एक नये किस्म के राज्य थे।

भले प्रतिक्रांति के बाद फ्रांस में एकबार फिर राजशाही की पुनर्स्थापना हुई, किन्तु नेपोलियन ने जिस साम्राज्य की नींव रखी वह वंशवादी भले ही हो (उत्तराधिकार के मामले में), लेकिन शासन प्रणाली क्रांति के आदर्शों से प्रभावित रही जो आने वाले वर्षों में यूरोप के अन्य देशों में कानून

के राज और सत्ता के विभाजन के सिद्धांतों के अनुसार दूसरे शासकों को और उनकी प्रजा को अनुसरण के लिए प्रेरित करती रही। औद्योगिकीकरण में पिछड़ने के कारण रूसी समाज 19वीं सदी में यूरोप की तुलना में एशियाई अल्पविकसित समाजों के कहीं अधिक निकट था। यहां तत्काल बाद यह जोड़ने की जरूरत है कि इसके बावजूद कोई दूसरी यूरोपीय शक्ति रूस पर हावी नहीं हो सकी। रूस हमेशा स्वाधीन बना रहा। इसका सबसे बड़ा कारण उसका विशाल आकार और ऐसी आबोहवा है, जहां कोई भी विदेशी आक्रमणकारी ज़्यादा समय टिक नहीं सकता।



RUSSIA

WHAT EVERYONE NEEDS TO KNOW

TIMOTHY J. COLTON



19वीं सदी में नेपोलियन का पतन रूस पर असफल आक्रमण के बाद ही आरंभ हुआ था। आजतक यह कहावत प्रसिद्ध है कि उसकी सेना को बर्फ के पाले नामक सेनानायक (जनरल फ्रोस्ट) ने हराया। जैसे-जैसे फ्रांस की सेनाएं आगे बढ़ती गईं रूसी पीछे हटते गए। जब मौसम बदला और कड़ाके की ठंड बढ़ी तो फ्रांसिसी सेना के लिए आगे बढ़ना तो दूर, किसी पड़ाव पर टिके रहना या सही सलामत वापस लौटना भी मुश्किल हो गया। यही रणनीति सोवियत संघ ने द्वितीय महायुद्ध में भी अपनाई। नाजी सेनाएं बड़ी तेजी से एक के बाद दूसरी जीत दर्ज करती आगे बढ़ती रही। रूसी खेत-खलियान जला अपना घर बार छोड़ पीछे हटते गए। इसे अंग्रेजी में स्कॉर्जड अर्थ पॉलसी कहते हैं। परमाणु युद्ध की संभावना ने पारंपरिक शक्ति संतुलन को आतंक के संतुलन में बदल दिया, पर तब भी रूस अमेरिका की ही तरह अपने को बड़े पैमाने पर किए गए परमाणविक हमले के बाद भी बदले में दुश्मन पर सर्वनाशक प्रहार करने में समर्थ समझता रहा है।

रूस के इतिहास में एक ओर उल्लेखनीय बात बेहद महत्वपूर्ण है कि यह भले ही ज़ारों का शासक उत्पीड़क और भयंकर सामाजिक विषमता को बढ़ावा देने वाला रहा हो, आम रूसी के मन में हमेशा ही उत्कट देश प्रेम हिलोरे लेता रहा है। जहां राष्ट्र-राज्य के रूप

में यूरोप की अनेक दूसरी बड़ी शक्तियां वेस्ट फेलियाई की संधि के बाद ही सामने उभर कर आईं। रूसियों के मन में अपने देश की बुनियादी पहचान हमेशा से एक महान साम्राज्य के रूप में रही है। रूस की आबादी का एक बहुत छोटा वर्ग शासक या उन पर आश्रित अधिकारियों का था, पर सभी के मन में रूस की हस्ती से राष्ट्रीय गौरव और स्वाभिमान का भाव अदम्य था। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में पुशकिन, गोगोल, दोस्तोयवस्की, तुर्गेनेव और टॉल्स्टोय जैसे लेखकों की रचनाएं इस समाज का सजीव दर्पण प्रस्तुत करती हैं।

रूसी कुलीन वर्ग चाहे वह मॉस्को या पीटर्सबर्ग में निवास करता हो, फ्रांसीसी भाषा का प्रयोग करना पसंद करते थे। खान-पान, वेशभूषा, मनोरंजन में भी इस कुलीन वर्ग का नाता आम रूसी के जीवन-यापन से नहीं था। अधिकांश की हैसियत बंधुवा नौकर-चाकरो, खेत विहीन किसानों जैसी थी, जिनको कोई बड़ा जमींदार ज़मीन के साथ खरीददार को बेच सकता था या उससे खरीद सकता था। इन पर कुलीन जो अत्याचार करते थे, उनके खिलाफ कोई कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती थी। बोल्सेविक क्रांति के बहुत पहले ही ज़ारशाही के प्रति उस छोटे तबके का आक्रोश बढ़ने लगा था, जो परजीवी बौद्धिक बिरादरी मास्टर, डॉक्टर, वकील आदि की संतानों ने निरंकुश शासकों के प्रति अपना

आक्रोश व्यक्त करना आरंभ कर दिया था और इनमें से कुछ यह आशा त्याग चुके थे कि उनके निर्मम शासक रत्तीभर सुधार लाने की कोशिश करेंगे। अतः उन्होंने अपने उत्पीड़कों के सफाये के लिए हिंसा का मार्ग अपनाया और इसके लिए खुफिया संगठनों की स्थापना भी की। ज़ारों की पुलिस जरा सा सुराग मिलने पर इनका क्रूरता से दमन करती थी। बोल्सेविक क्रांति के सबसे बड़े जननायक ब्लादिमीर लेनिन के बड़े भाई को ऐसी गतिविधियों के शक में ही मृत्युदण्ड दिया गया था और कुछ विद्वानों का मानना है कि इसी कारण लेनिन ने ज़ारों का वंश नाशकर प्रतिशोध पूरा किया।

पुस्तक में कुल 6 अध्याय हैं, जिनमें पहला अध्याय विषय प्रवेश है। इसमें वही बुनियादी सवाल उठाए गए हैं, जिनका ज़रा विस्तार से चर्चा यहां ऊपर किया जा चुका है। रूसी कौन है? और सोवियत रूस से पश्चिम इतना आशंकित क्यों रहा? क्या आज बौना बन चुके रूस के बारे में सूजने-बूझने की कोई जरूरत पश्चिम को है? और अंत में यह सवाल भी विचारणीय है कि क्या चीन की तरह रूस भी ऐसी अनबूझ गुत्थी तो नहीं, जिसको बाहर का कोई व्यक्ति सुलझा ही नहीं सकता। 12-13 पृष्ठों के इस अध्याय का शीर्षक है, 'वाय दि रसन फिनिक्स मैटर्स?' फिनिक्स यानी



सुरखाब नामक मिथकीय पक्षी जो खुद अपने राज से पुनर्जन्म लेता है। अगले अध्याय का शीर्षक है, 'फाउन्डेशन' इसका अनुवाद बुनियाद सबसे सहज लगता है। इस अध्याय में 10-15 पन्नों में ही बड़े कौशल से इस बात का सर्वेक्षण किया गया है कि रूस के भूगोल ने रूस के विकास को कैसे प्रभावित किया है और कैसे उसका आकार इतना विशाल बना। साम्राज्य के रूप में पहचान ने न जाने कैसे रूसी मानसिकता का निर्धारण किया है। अंत में एक सटीक सवाल पूछा गया है कि रूस ने 20वीं सदी के पहले चरण में सुधार के बदले क्रांति का मार्ग क्यों चुना था?

तीसरा अध्याय साम्यवाद को समर्पित है और पहले 2 अध्यायों की तुलना में लंबा है। इसमें कोई 55 पृष्ठ हैं जो बात पुरानी पीढ़ी के पाठकों को कुछ अटपटी लग सकती है कि जिस सोवियत शासन के दौर को समझने के लिए इसके प्रारंभिक 4-5 वर्षों के विश्लेषण में ही ईएचकार जैसे विद्वानों ने तीन-तीन, चार-चार पुस्तकों की श्रृंखला लिख डाली आज उस कालखण्ड को इतने संक्षेप में निपटाया जा रहा है। प्रतियोगी परीक्षा के उम्मीदवारों के लिए यह अध्याय सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें लेनिन और बोल्सेविकों का परिचय देने के साथ इस बात पर भी गोष्ठी डाली गई है कि रूसी क्रांति में बोल्सेविक ही क्यों कामयाब हुए? इस दौर की दो महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं, एक ही देश में समाजवाद के सिद्धांत और ऊपर से क्रांति के लागू किए जाने के आचरण ने मार्क्सवादी चिंतन को शीर्षासन करवा दिया। मार्क्स की कल्पना थी कि सर्वहारा एक व्यापक हड़ताल द्वारा पूंजीपति, उद्योगपतियों को परास्त कर देंगे। लेनिन के अनुसार यह काम सर्वहारा खुद नहीं कर सकता उसके हमदर्द और तरफदार पार्टी के अग्रदूत ही कर सकते हैं। लेनिन की इस सोच को उनके अनेक साथी अपना समर्थन नहीं देते थे। ट्रॉस्की जैसे लोगों का मानना था कि किसी एक देश में, सोवियत संघ जैसे साम्यवाद का गढ़ बनाकर उसकी रक्षा में ही सारी ताकत झोंक देना बेमतलब था और इससे विश्व व्यापी स्तर

पर क्रांतिकारी ताकतें कमजोर ही हो सकती थीं। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का समर्थक धड़ा कॉमिन्टर्न वाला निरंतर कमजोर होता गया। क्रांति के कुछ ही वर्ष बाद लेनिन की रहस्यमय परिस्थितियों में मौत हो गई और सत्ता के सारे सूत्र लेनिन के बाद स्टालिन ने अपने हाथ में ले लिये। स्टालिन ने गिन-गिन कर अपने प्रतिद्वंद्वियों को हटाना शुरू किया और लेनिन की अनेक सैद्धांतिक स्थापनाओं को अपने जरूरत के मुताबिक बदलना आरंभ किया। पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भले ही स्टालिन की सरकार निर्मम-निरंकुश तानाशाही वाली थी। व्यक्तिवादी अधिनायकवाद को बढ़ावा देने वाली, पर इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि स्टालिन के काल में ही सोवियत संघ एक पिछड़े गरीब देश से एक ताकतवर आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी से संपन्न देश के रूप में उभर सका। बाद के वर्षों में भले ही स्टालिन का सख्तीकरण होता रहा है और यह बात भी भी झुठलाई नहीं जा सकती कि इस पूरे दौर में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गुंजाइश नहीं थी और असहमति का ज़रा सा स्वर मुखर करने वाले को साइबेरिया के दंडद्वीप में भेज दिया जाता था। जहां वह तिल-तिल कर मरते थे। फिर भी इस्पात का उत्पादन हो या सैनिक साज-सामान में आत्मनिर्भरता, इन सभी की नींव स्टालिन शाही के केन्द्रीय नियोजन वाले युग में रखी गई। स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस की जिलन वैज्ञानिक तकनीकियों का सेहरा खुश्चैव के सिर बंधा। वास्तव में वह स्टालिन की तानाशाही दूरदर्शी सोच से ही संभव हुई थी।

इसी अध्याय में खुश्चैव के शासनकाल में पश्चिम के साथ संबंधों में सुधार और रूसी साम्यवाद में संशोधनवाद के दौर का अध्ययन भी किया गया है। 20वीं पार्टी कांग्रेस ने इस बात का खुलासा किया कि कैसे स्टालिन के शासनकाल में मानवाधिकारों का भयंकर हनन हुआ और खूफिया पुलिस के उत्पीड़न के कारण जाने कितने मासूमों की जिंदगियां बर्बाद हुईं। इनमें वैज्ञानिक, कवि-कलाकार, पत्रकार और खिलाड़ी सभी शामिल थे। आज यह बात निर्विवाद है कि

वास्तव में स्टालिन शाही निर्मम थी। तब भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि उस वक्त सोवियत संघ में कोई भी आदमी भूखे पेट नहीं सोता था और न ही कड़ाके के जाड़े को झेलने के लिए उसके पास मोटे ऊनी वस्त्रों का अभाव होता था। पढ़ाई और इलाज के लिए सरकार ने लगभग निःशुल्क व्यवस्था कर रखी थी और भले ही श्रेष्ठ वर्ग का रोजमर्रा का जीवन अय्याशी से बीतता था। आम रूसी का जीवन क्रांति से पहले वाले रूस की तुलना में कहीं अधिक सुव्यवस्थित और कम कष्टप्रद था। जनतांत्रिक परंपरा तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अभाव रूसियों से ज़्यादा साम्यवाद के पश्चिमी आलोचकों को ज़्यादा सालता था।

चौथा अध्याय नये रूस का खांका पेश करता है। यह अध्याय भी तकरीबन 45 पन्नों का है और इसमें 1970 के दशक के अंत से 21वीं सदी के आरंभ तक का लेखा-जोखा दर्ज किया गया है। इन वर्षों में वास्तव में रूस का कायाकल्प निखाइल गोरवाचौव ने पेरेस्ट्राइका और ग्लासनोस्त का सूत्रपात किया अर्थात् आर्थिक नीति में संरचनात्मक सुधारों का आरंभ और राजकाज में पारदर्शी साफगोई। रूसी साम्यवादी पार्टी के वरिष्ठ सदस्यों को यह लगता था कि पूंजीवादी पश्चिमी देशों का चहेता बनने के लालच में ब्रिजनेव रूसी हितों की बलि दे सकते हैं। कुछ लोग तो उन्हें खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी एजेंट कहने लगे थे। आरंभ में तो मिखाइल गोरवाचौव सभी को ताजी हवा का झोंका लगे, पर बहुत जल्द उनका करिश्मा निष्प्रभावी हो गया। उनके विरुद्ध तख्ता पलट की साजिश रची गई उस समय गोरवाचौव मॉस्को से बाहर थे और बॉलिस येलसिन ने असाधारण दिलेरी दिखा डुमा (रूसी संसद) को घेर लिया और तोप के कुछ गोले दाग विरोधियों को एक ही बार में ध्वस्त कर दिया। इसके बाद यह स्वाभाविक ही था कि सत्ता गोरवाचौव के हाथ से फिसलकर येलसिन के पास चली गई। येलसिन साहसिक भले ही रहे हो, उनमें करिश्मा का अभाव था। वह शराब के वयसनी थे और बहुत शीघ्र ही यह साबित हो गया कि वह चुनौती भरे इस

दौर में रूस को सही नेतृत्व नहीं दे सकते। यहां इस बात का उल्लेख जरूरी है कि रूस इस समय असाधारण संकट से गुजर रहा था और अराजकता के भवर में फंसा हुआ था। सोवियत संघ के अनेक घटक राज्य उससे अलग हो गए थे और भले ही कुछ समय के लिए उन्होंने गणराज्य के एक राष्ट्रकुल के रूप में लचीली साझेदारी स्वीकार की थी, पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि मध्य एशियाई गणराज्य में कोई भी अब मॉस्को का आधिपत्य स्वीकार करने को राजी नहीं था। रूस की अर्थव्यवस्था पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ा। केन्द्रीय नियोजन के दौर में सोवियत संघ में हर औद्योगिक ईकाई या सामूहिक खेती-बाड़ी के काम का एक विचित्र प्रकार से विकेन्द्रीकरण किया गया था। भले ही सारे फैंसले मॉस्को में लिए जाते थे और केन्द्रीय दिशा-निर्देश के अनुसार ही सारा क्रियाकलाप संचालित होता था, विमानों टैंकों, जहाजों का उत्पादन किसी एक कारखाने में अकेले नहीं होता था। इनके कलपुर्जे अलग-अलग राज्यों में निर्मित होते थे। सोवियत संघ के विलय के बाद ऐसा करना संभव नहीं रहा। इसी तरह यूक्रेन जैसे राज्य खाद्यान्न उत्पन्न करते थे, जिनका बाजार पूरा सोवियत संघ था। जॉर्जिया और उजबेकिस्तान को सस्ते दाम पर तेल और गैस सुलभ कराने का काम रूस साइबेरिया स्थित अपने विपुल ऊर्जा भण्डार से करता था, पर यह उस स्थिति से बहुत फर्क था जब ब्रेजनेव के शासनकाल में सोवियत संघ अपने घटकों को ही नहीं वरन् पूर्वी यूरोप के उपग्रह राज्यों को भी सीमित संप्रभुता का सबक सिखा रहा था। इस अध्याय के अंत में उन आर्थिक कारणों का विश्लेषण किया गया है। जिनकी वजह से रूस में भयंकर अराजकता और संगठित अपराध, भयविचार को बढ़ावा मिला। अतंतः येलसिन ने पद त्याग किया और उनका स्थान ब्लादिमीर पुतिन ने लिया।

पाँचवा अध्याय ट्रांजिशन सम्भवतः इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है, क्योंकि पिछले 17-18 वर्ष में रूस का कायाकल्प जिस तरह हुआ है, उससे

उसके ज़ारशाही और साम्यवादी इतिहास की विरासत की सार्थकता पर कई बड़े सवालिया निशान लग चुके हैं। जब गोरवाचौव ने 1990 के दशक वाले बदलाव का रास्ता तलाशा था तब अधिकांश विश्लेषकों को लगता था कि आर्थिक उदारवाद के साथ-साथ रूस में जनतांत्रिक-राजनैतिक परिवर्तन की शुरुआत देर-सवेर होगी ही। एक दशक तक परिवर्तनकारी तत्वों और प्रतिगामी तत्वों के बीच रस्साकशी के बाद पुतिन ने सत्ता संभाली थी। पुतिन भले ही खुफिया पुलिस के आला अफसर रह चुके थे, करिश्माई व्यक्तित्व के धनी थे, नौजवान थे और सेन पीटर्सबर्ग में लोकप्रिय और कार्यकुशल मेयर रह चुके थे। अनेक विश्लेषकों का मानना था कि वह निश्चय ही उस बदलाव को आगे बढ़ाएंगे जो बीच में ही अधूरा अटक गया था। पुतिन के पहले कार्यकाल में ही यह बात स्पष्ट हो गई थी कि पुतिन ने पुरानी रूसी साम्यवादी पार्टी को तो तहस-नहस कर दिया, किन्तु जनतंत्र की स्थापना में उनकी कोई रुचि नहीं। उनके क्रेमलिम में पहुंचने तक भ्रष्ट रूसी पूंजीपति-उद्यमी सबसे ज़्यादा ताकतवर थे। इन्हें ओलीगार नाम से जाना जाता था। सबसे पहले पुतिन ने इनका दमन किया और इसके बाद मीडिया और जनतंत्र की मांग करने वालों पर चाबुक भटकारी। इससे पहले के कारण आम रूसी के बीच पुतिन की लोकप्रियता तेजी से बढ़ी और उन्हें यह भी लगा कि बड़ी देर बाद एक ऐसा नेता सामने आया है जो पस्ती से घिरे रूस को फिर से बुलंदी तक पहुंचा सकता है।

रूस के संविधान के अनुसार एक राष्ट्रपति का कार्यकाल दो सत्र तक ही सीमित रह सकता है। अतः 2008 में पुतिन ने अपने विश्वासपात्र मेदियादेव को राष्ट्रपति पद सौंप खुद प्रधानमंत्री बनना स्वीकार किया। उस समय यह शक प्रकट किया गया कि जिस तरह एक मियान में दो तलवारे नहीं रह सकतीं, वैसे ही क्रेमलिम में एकसाथ दो ज़ार नहीं रह सकते। यह अटकले लगाई जाने लगी कि मेदियादेव पुतिन को लौटने नहीं देंगे। पर 2012 में पुतिन फिर राष्ट्रपति के रूप में पुनर्निर्वाचित हुए। इन चुनावों में

पुतिन को चुनौती देना किसी दूसरी पार्टी के उम्मीदवार के लिए आसान नहीं था, पर तब भी यह बात स्वीकार करनी होगी कि यह चुनाव भ्रष्ट या सिर्फ भयादोहन पर आधारित नहीं था। आज राष्ट्रपति के रूप में पुतिन एक अन्तराल के बाद चौथा कार्यकाल निर्विघ्न पूरा करने जा रहे हैं।

पुतिन रूस के लिए अच्छे साबित हुए हैं या बुरे इसका फैसला तो रूसी खुद करेंगे। मगर जहां तक पश्चिमी देशों का प्रश्न है पुतिन उन्हें लोहे के चने चबवा रहे हैं। उन्होंने पूर्वी देशों को कड़ी चेतावनी दे दी है कि अगर उन्होंने यूरोपीय समुदाय की सदस्यता ग्रहण की तो इसका खामियाजा उन्हें रूसी गुस्से के रूप में भुगतना पड़ेगा। इसके अलावा यूक्रेन में सैनिक हस्ताक्षेप और क्रिमिया पर कब्जे से उन्होंने यह दर्शा दिया है कि वह अमेरिकी धौंस-धमकी के सामने दबने वाले नहीं हैं। पुस्तक के अंतिम छठे अध्याय में भविष्य के बारे में कुछ तर्कसंगत अनुमान लगाने की चेष्टा की गई है। आज का रूस किस तरह का देश है-उदार या कट्टरपंथी? किस तरह के परिवर्तन की संभावना है? क्या रूस अपने इतिहास या भूगोल का बंदी है और क्या वह हमेशा शेष विश्व से अलग-थलग रहेगा? इस समय सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या पुतिन अपना वर्तमान कार्यकाल पूरा करने पर पदत्याग करेंगे या संविधान में संशोधन कर राष्ट्रपति बने रहेंगे?

जिस तरह 1960 के दशक के मध्य में उपभोक्ता सामग्री के अभाव में रूसियों के मन में असंतोष का ज्वार पैदा किया था और कुछ ऐसी ही स्थिति ब्रेंजनेव के कार्यकाल के सामने आने लगी थी। क्या दोबारा वैसे ही निकट भविष्य में देखने को मिल सकता है? अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतें गिर रही हैं और इसके साथ ही रूस का वह खाजाना भी घटता जा रहा है जो पुतिन के अतिराष्ट्रवादी अहंकार को और आक्रमक तेवरों को बढ़ावा दे रहा था। यदि समकालीन रूस को समझना हो तो इस पुस्तक से अच्छा कोई अन्य परिचय नहीं हो सकता।





इंडिया : प्रायोरिटीज फॉर द फ्यूचर

लेखक : बिमल जालान

मणिकांत सिंह

बिमल जालान अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अर्थशास्त्री तो हैं ही वह भारत सरकार के वित्त मंत्रालय में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर काम कर चुके हैं। वह सरकार के प्रमुख आर्थिक सलाहकार, मंत्रालय में सचिव, रिजर्व बैंक के अध्यक्ष रहे हैं। इसके अलावा वह विश्व बैंक तथा आईएमएफ में भारत के प्रतिनिधि कार्यकारी निदेशक की जिम्मेदारी भी निभा चुके हैं। राज्य सभा के नाजद सदस्य के रूप में उन्हें राजनीति की रस्साकशी करीब से देखने का अवसर मिला है। वह भारतीय राजनीति तथा अर्थव्यवस्था पर केंद्रित अनेक चर्चित पुस्तकों के लेखक हैं। ऐसे सुयोग्य तथा अनुभवी लेखक की किसी भी कृति को 'पढ़ने लायक' समझा जाना स्वाभाविक है। यह छोटी सी किताब उन पुस्तकों की तुलना में गैर विशेषज्ञ पाठकों को आकर्षित कर सकती है, जो उलझी गुत्थियों को सुलझाने-समझने में बहुत समय या श्रम नहीं खर्च करना चाहते।

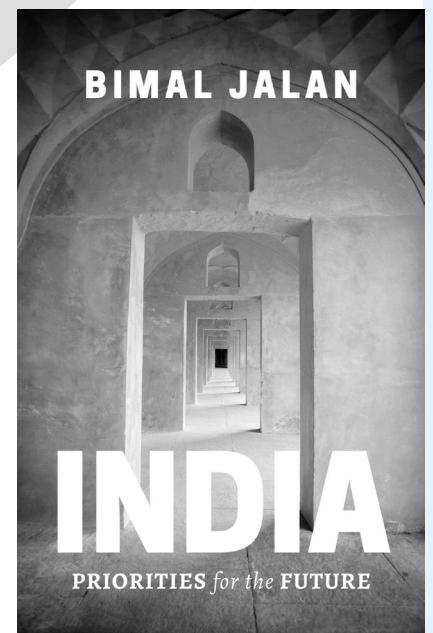
इसीलिए शुरू में ही यह साफ करने की जरूरत है कि इस पुस्तक का बहुत बड़ा हिस्सा बिमल जालान की अन्य पुस्तकों में प्रकाशित लेखन का संकलन है। इसी कारण पुस्तक का उपशीर्षक भ्रामक है- 'भविष्य के लिए प्राथमिकताएं।' अनेक संकलित लेख 1990 के दशक के पूर्वार्ध में लिखे गए हैं और तब जिस कालखंड को भविष्य के रूप में देखा जा रहा था

वह आज अतीत में बदल चुका है। तब की प्राथमिकताएं और समकालीन भारतवर्ष की प्राथमिकताएं यथावत् स्वीकार नहीं की जा सकतीं। लेखक के पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि आर्थिक सुधारों के क्रांतिकारी सूत्रपात के दौर में जो प्राथमिकताएं मुखर की गई थीं उनके अनुसार नीति निर्धारण तथा क्रियान्वयन अभी बाकी है। अतः इनको रेखांकित करने की जरूरत बची रहती है, पर यह दलील तर्कसंगत नहीं। पिछले पचीस-तीस सालों में देश ही नहीं दुनिया भी बहुत तेजी से बदली है। संदर्भ और परिवेश बदलने से प्राथमिकताएं प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकतीं। पुस्तक की सामग्री दो प्रमुख भागों में बांटी गई है- भारत तब : 1980-2000 तक और भारत अब : 2000-2017 तक अर्थात् पिछले लगभग चार दशक की नीतियों का विश्लेषण कुल आठ अध्यायों में किया गया है।

पहला अध्याय " डेवलपमेंट स्ट्रेटजी एंड पफॉरमेंस" 1999 में प्रकाशित एक लेख "इंडियाज इकोनॉमिक क्रायसिस: दि वे अहैड" का संपादित संस्करण है जो विकास की रणनीति पर केंद्रित है और आजादी के तत्काल बाद लिए गए आर्थिक निर्णयों का पुनरावलोकन करने का प्रयास है। वास्तव में यह 1930-40 वाले दशकों में अर्थशास्त्रियों द्वारा विकासशील समाजों के लिए उपलब्ध विकल्पों के विषय में सैद्धांतिक अवधारणाओं का संक्षिप्त परंतु

सारगर्भित सर्वेक्षण है। भारतीय ही नहीं गुन्नार मिर्डल, राउल प्रेबरीश तथा रैगनार नर्क्स सरीखे विद्वानों की स्थापनाओं और उनके सुझावों तथा द्वितीय विश्व युद्ध के सामरिक दबाव में आर्थिक क्रियाकलापों पर लगाए सरकारी प्रतिबंधों और बाजार के नियंत्रण की तर्कसंगति समझने के लिए यह हिस्सा बेहद उपयोगी है।

जालान, पाठकों का ध्यान इस ओर दिलाते हैं कि महायुद्ध के विस्फोट से पहले भी सोवियत क्रांति के उपरांत रूस में केंद्रीय नियोजन की जो पद्धति अपनाई गई थी उसने समाजवादी रुझान के नेहरू को



ही नहीं वरन् अनेक प्रतिभाशाली भारतीय अर्थशास्त्रियों की एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया था। इनमें के.एन. राज, दया कृष्ण, सुखमौय चक्रवर्ती, पीतांबर पंत अग्रगण्य हैं। 1947 से लेकर 1977 तक लगभग तीस वर्ष तक इसी सोच के अनुसार भारत के आर्थिक विकास की रूपरेखा तैयार की जाती रही।

इसी अध्याय में लेखक ने आर्थिक विकास के संदर्भ में बाजार और सरकार के रिश्तों पर भी रोशनी डाली है। उनके अनुसार इनमें से किसी एक के बारे में यह कहना असंभव है कि उसी की भूमिका निर्णायक होती है अथवा विकास के लिए मुक्त बाजार अथवा बाजार का सरकारी नियंत्रण अनिवार्य हैं। लेखक किसी सैद्धांतिक विचारधारा के बोझ को नहीं ढोता दिखलाई देता। वह इस बात को रेखांकित करता है कि बाजार और सरकार दोनों ही 'अच्छे' और 'बुरे' हो सकते हैं और आर्थिक विकास की गति को तेज या मंद कर सकते हैं।

यह बात जरा विचित्र लगती है, जब लेखक यह टिप्पणी करता है कि आजादी हासिल करने के बाद यदि भारत ने राशनिंग व्यवस्था का उन्मूलन करने का फैसला किया होता तो शायद 1950 के दशक में आर्थिक विकास की नीति मजबूती से रखी जा सकती और बाद के वर्षों में भ्रष्टाचार का दैत्याकारि संक्रमण नहीं होता। वह इस बात को आसानी से भुला देता है कि देश के विभाजन के कारण जो परिस्थिति पैदा हुई थी उसके तथा भारतीय संघ में रियासतों-रजवाड़ों के विलय ने भयंकर सामाजिक विषमता से पीड़ित देश में आशाओं के ज्वार को जन्म दिया था। इस समय सामाजिक वितरण प्रणाली को या आर्थिक उद्यम को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने का कदम उठाना सहज नहीं था। राजनैतिक आजादी हासिल करने के बाद भी आर्थिक आजादी अर्थात् स्वावलंबी आत्मनिर्भरता की मंजिल बहुत दूर थी। खाद्यान्नों का उत्पादन हो या बड़े उद्योगों की स्थापना भारत के विकल्प सीमित थे। पंचवर्षीय योजनाओं का जो महत्वाकांक्षी कार्यक्रम अपनाया गया

उसमें मिश्रित अर्थव्यवस्था को प्रमुख स्थान दिया गया था। यदि ऐसा नहीं किया गया होता तो आजादी के बाद के दस साल में भारत के आर्थिक विकास की दर पता नहीं क्या रहती और सामाजिक असंतोष-आक्रोश ने राजनैतिक अस्थिरता का विकराल रूप धारण कर लिया होता। आज लगभग आधा सदी बीत जाने के बाद नेहरू युगीन नीतियों की 'असफलता' जगजाहिर है और इनकी आलोचना सहज है, पर यह अनदेखा करना असंभव है कि उस वक्त अधिकांश देशी विदेशी अर्थशास्त्रियों का समर्थन उन्हें प्राप्त था। जनतांत्रिक गुटनिरपेक्ष भारत द्वारा चुने आर्थिक विकास के इस मार्ग को अफ्रीका एशिया के नवोदित राष्ट्रों के लिए आदर्श तीसरे विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था।

दूसरा अध्याय "कंट्रोल, रेगुलेशन एंड दि स्टेट" भी पूर्व प्रकाशित एक लेख की ही संशोधित पुनर्प्रस्तुति है और पहले अध्याय में उठाए मुद्दों को आगे बढ़ाने की कोशिश है। इस लेख में रोजगार-नौकरियों, व्यापार और सरकार की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। हमारी समझ में बेहतर होता कि लेखक इस सामग्री को पहले अध्याय में ही शामिल करता और यदि उस अध्याय का आकार बड़ा असहज होने लगता तो सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक (भारत के ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में) आधार पर इसे दो अलग अध्यायों में प्रस्तुत करता।

तीसरा अध्याय पहले दो अध्यायों को चौथे से जोड़ने वाली एक कड़ी के रूप में इस पुस्तक के लिए मौलिक रूप से लिखा गया है अर्थात् पहले प्रकाशित नहीं हुआ है। इसका शीर्षक है "आफ्टर दि क्रायसिस: नीड फॉर ए न्यू स्ट्रेटजी" और इसमें मांग, वित्त, आयात नीति तथा विदेशी सहकार जैसे विशेषीकृत विषयों को उठाया गया है। जिन पाठकों ने अर्थशास्त्र को एक विषय के रूप में नहीं पढ़ा है उनके लिए यह जानकारी बेहद उपयोगी है। जटिल विषय को बोधगम्य बनाने में लेखक सफल रहा है। इसी भाग में आधारभूत ढांचे तथा कार्यकुशल सार्वजनिक क्षेत्र पर भी

विचारोत्तेजक टिप्पणियां की गई हैं।

चौथा अध्याय "फिनैन्स एंड डेवलपमेंट शिफ्टिंग पैराडाइम" लेखक के एक पुराने (1999 वाले) भाषण पर आधारित है। पुस्तक के दूसरे हिस्से का पहला अध्याय (यानी पांचवां) भी लेखक के 2001 के भाषण का ही पुनर्प्रकाशन है। इसका शीर्षक है "इंडियाज इकोनॉमी इन दि ट्रैटिफर्स्ट सेंचुरी : ए न्यू बिगिनिंग और दि फॉल्स डॉउन"। यहां भी यह बात खलती है कि 16-17 वर्ष बीत जाने के बाद भी नयी पहल या मरीचिका के बीच फर्क करने में लेखक को असमंजस महसूस होता है या उसे लगता है कि पाठक इसमें असमर्थ हैं। ईमानदारी का तकाजा यह है कि इस बात को बेहिचक स्वीकार किया जाए कि आर्थिक सुधारों के बावजूद भारत की अर्थव्यवस्था की विकास दर कुल मिला कर बहुत उत्साहवर्धक नहीं रही है। चूंकि लेखक स्वयं इन वर्षों में बदलती सरकारों के बावजूद प्रमुख नीति निर्धारकों-आर्थिक सलाहकारों में रहा है उसके लिए तटस्थ रहना कठिन लगता है। जिस तरह पुस्तक के पहले हिस्से में वह नेहरू की आर्थिक नीतियों की असफलता को उनकी अदूरदर्शिता को स्वीकार करने से कतराता नजर आता है वैसे ही इस भाग में वह इस सवाल को नजरंदाज करने की कोशिश में लगा दिखता है कि क्या आर्थिक सुधारों को लागू करने वाली नीतियों पर पुनर्विचार का वक्त नहीं आ गया है? कब तक विद्वान अर्थशास्त्री 'नई पहल', उदीयमान चुनौतियों" तथा "नई रणनीति" की बात करते रहेंगे? "नये" और "भविष्य" को क्या इतनी आसानी से वर्तमान और अतीत से अलग किया जा सकता है?

इस किताब का पहला अध्याय स्वयं इस बात का प्रमाण है कि बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का आर्थिक विकास परक शोध और चिंतन से परिचय कैसे 21 वीं सदी में भारत के विकास के लिए नीति निर्धारण के लिए आवश्यक है। बहरहाल पुस्तक के दूसरे भाग की अधिकांश सामग्री पूर्वप्रकाशित नहीं। सिर्फ पांचवां अध्याय लेखक के 2001 वाले सी.डी. देशमुख स्मारक व्याख्यान

पर आधारित है। इसमें आर्थिक नीति निर्धारण तथा राजनीति के रिश्तों को उद्घाटित करने की चेष्टा की गई है। जाहिर है कि लेखक ने नौकरशाही की जड़ता, मानसिकता के साथ-साथ जनतांत्रिक चुनावी राजनीति के दबावों के कारण सदाशयी नीतियों के निधरण या उनके क्रियान्वयन की असफलता के कारणों का सटीक विश्लेषण अपने सुदीर्घ अनुभव से किया है। लेखक की एक पुस्तक का शीर्षक है “पॉलिटिक्स ट्रूप्स इकोनॉमिक्स” जिसका मोटा अनुवाद किया जा सकता है, “राजनैतिक तुरूप की अर्थव्यवस्था पर जीता” यहां उसी निष्कर्ष को दोहराया गया है।

मार्क्सवादी अर्थशास्त्री हों या पूंजीवादी अर्थशास्त्री दोनों की ही दृष्टि में आर्थिक कारक राजनीति तथा सामाजिक परिवर्तनों को प्रभावित ही नहीं वरन् निर्णायक रूप से संचालित भी करते हैं। इसीलिए यह समझना जरा कठिन है कि जालान क्यों इतनी जल्दी राजनीति की प्राथमिकता स्वीकार कर लेते हैं।

पॉलिटिक्स एंड गवर्नेंस वाला अगला अध्याय इसी पुस्तक के लिए लिखा गया लेख है, जो दूसरे अध्यायों की जानकारियों को एक सूत्र में पिरोने का काम भी करता है। ‘सैपेरेशन ऑफ पावर्स : दि मिथ एंड रिएलिटी’ भी नानी पालकीवाला स्मारक व्याख्यान का ही पुनर्प्रकाशन है जो पाठकों को यह सोचने को विवश करता है कि क्या लेखक के विचार तीन-चार दशकों के विविध अनुभवों के बाद भी बदले नहीं हैं या उसकी समझ में देश तथा दुनिया के तेजी से बदलने के बावजूद वह उनमें संशोधन की जरूरत नहीं समझता? अर्थशास्त्र में शाश्वत सैद्धांतिक पक्षधरता व्यापक है, पर राजनीति और समाजशास्त्र के अनुशासनों में सामान्यतः इस परंपरा का अनुशरण नहीं होता।

‘भारत तब’ वाले पूर्वार्ध में यह बात कही गई है कि पंचवर्षीय योजनाओं की रूपरेखा तैयार करते वक्त राजनेताओं को इस बात का ध्यान था कि इनकी सफलता के लिए नौकरशाही की सोत्साह भागीदारी अनिवार्य है। इस विषय पर आशंकाएं भी मुखर की गई थीं, फिर क्यों इस बारे में

सतर्कता नहीं बरती गई? यहां एक और बड़ा बुनियादी सवाल खड़ा होता है? क्या आर्थिक विकास बिना न्यायिक प्रणाली और राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन के अभाव में संभव है? अगर 1940 से आज तक भारत भ्रष्टाचार की चपेट में रहा है और काले धन पर लगाम लगाना या सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को कार्यकुशल बनाना असंभव रहा है तो क्या इसके लिए इस यथार्थ की अनदेखी करना ही जिम्मेदार नहीं है?

यह आशा निर्मूल साबित हुई है कि साक्षरता तथा शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ राजनैतिक चेतना और जिम्मेदार नागरिकता का प्रसार होगा तथा अस्मिता की राजनीति-जातिगत पूर्वाग्रह, पक्षधरता एवं सांप्रदायिक वैमनस्य-का क्रमशः क्षय होगा।

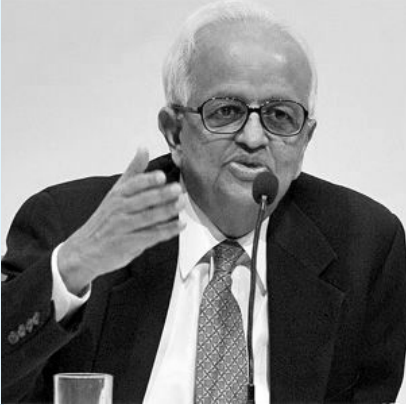
पुस्तक के दूसरे हिस्से में वर्तमान राजनीति पर लेखक की टिप्पणियां हैं। दिलचस्प बात यह है कि अर्थशास्त्री जालान ने अपनी विशेषज्ञता के दायरे से बाहर निकलकर जिन चीजों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की है वह ज्यादा विकास के अर्थशास्त्र वाले उनके पूर्व प्रकाशित लेखों के निष्कर्षों की तुलना में कहीं अधिक विचारोत्तेजक हैं। शायद इसका कारण यह है कि यह निबंध इस पुस्तक के लिए हाल में लिखे गए हैं और चूंकि लेखक स्वयं नीति निर्धारक के रूप में इनके लिए जिम्मेदार नहीं रहा है अतः उसका नजरिया कहीं अधिक तटस्थ है। बहरहाल, लेखक ने दो-तीन महत्वपूर्ण विषय रेखांकित किए हैं, इनमें एक है- सत्ता का विभाजन: मिथक और यथार्थ और दूसरा बड़े राजनैतिक दलों के छोटे-छोटे दलों में विभाजन का संसदीय जनतंत्र पर प्रभाव।

लेखक के सार्वजनिक जीवन सलाहकार, प्रशासक तथा नियंत्रक नीति निर्धारक के रूप में उन वर्षों का है, जब भारत में साझा सरकारें काम कर रही थीं। आज केन्द्र में पच्चीस साल बाद स्पष्ट बहुमत संपन्न सरकार का गठन हो चुका है तथा अनेक बड़े राज्यों में भी किसी एक दल की सरकार अपने बल बूते पर काम करने में समर्थ है। जहां ‘गठबंधन’

सरकारें हैं वहां इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ साझा नाममात्र को प्रतीकात्मक ही है। मोदी के नेतृत्व में एनडीए की सरकार पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वह असहमति को स्वीकार नहीं करती और न ही विपक्ष के लिए संसद में कोई जगह छोड़ना चाहती है। इस बदलाव के बाद छोटे दलों का अवमूल्यन तेजी से हुआ है। क्षेत्रीय दलों के विखंडन और एनडीए में विलय की प्रवृत्ति कई राज्यों में देखी जा सकती है। अर्थात् जालान के विश्लेषण को संशोधित करने की जरूरत महसूस होती है।

इसके साथ-साथ लेखक ने हमारे संविधान में प्रतिष्ठित संघीय व्यवस्था के कारण पैदा होने वाली उन अड़चनों की चर्चा भी की है जो आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक हैं। यह बात हम अक्सर भूल जाते हैं कि यदि सर्वव्यापी भ्रष्टाचार पर काबू पाने में सरकारें असमर्थ रही हैं तो इसका सबसे बड़ा कारण प्रशासनिक सुधारों को लागू न कर सकना है। नौकरशाही को औपनिवेशिक काल से ही कानूनी कार्यवाही के विरुद्ध विशेष संरक्षण प्राप्त है। जालान का बिल्कुल सही मानना है कि पुलिस तथा सेना को छोड़ अन्य विभागों के अधिकारियों को इस कवच की जरूरत नहीं। लेखक का एक और सुझाव है कि त्वरित आर्थिक विकास के लिए हर मंत्री की निश्चित समय सीमा के भीतर अपने विभाग के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत काम काज को पूरा करने की जिम्मेदारी तय करनी चाहिए। सरकार जो वादे करती है उनको पूरा किया जा रहा है या नहीं इसकी पड़ताल की पारदर्शी व्यवस्था परमावश्यक है। हम यह बात अक्सर भूल जाते हैं कि संसदीय प्रणाली में संयुक्त जिम्मेदारी का सिद्धांत सर्वमान्य है। अर्थात् कोई भी मंत्री व्यक्तिगत रूप से किसी चूक के लिए जिम्मेदार नहीं होता। यह कल्पना करना कठिन है कि मंत्रिमंडल के किसी एक सदस्य की विफलता के कारण सरकार अपनी संयुक्त जिम्मेदारी स्वीकार कर पदत्याग देगी।शेष पेज 129 पर

यहां लेखक आदर्श और व्यवहारिक यथार्थ के बीच अंतर करने में असमर्थ नजर



आता है। वह एक जगह यह तो उजागर करता है कि इस संसद में लगभग 20 प्रतिशत सदस्य ऐसे हैं जो जघन्य अपराधों के आरोपी हैं और सभी अपने पक्ष में यही तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उन्हें राजनैतिक कारणों से झूठे मामलों में फंसाया गया है। मुकद्दमा दायर होने के बाद भी न्यायिक प्रक्रिया बहुत समय लेती है और अपना कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद भी किसी आरोपी को दंडित या बरी नहीं किया गया जा सकता। इस संदर्भ में जालान का सुझाव विचारोत्तेजक है। कानून में संशोधन कर ऐसे राजनेताओं के खिलाफ दर्ज मुकद्दमों की सुनवाई विशेष अदालतों में प्रतिदिन होनी चाहिए और फैसला होने तक सदन में इनके आचरण पर तीखी नजर रखी जानी चाहिए। यहां भी सवाल वही उठता है कि आखिर बिल्ली के गले में घंटी बांधेगा कौन?

यह सुझाना भी भोलापन ही लगता है कि संघीय व्यवस्था को विकेंद्रीकरण के साथ जोड़ने वाले सुझाव संभवतः अधिक आसानी से अपनाए जा सकते हैं। लेखक का मानना है कि जिस तरह वित्त आयोग वित्तीय संसाधनों के वितरण का फैसला करता है, उसी तरह समस्त अन्य संसाधनों की साझेदारी-परियोजनाओं के निर्धारण एवं क्रियान्वयन से संबंधित निर्णय लेने का एकाधिकार राज्यों को दिया जाना चाहिए। जाहिर है कि स्थानीय समस्याओं या राज्य के निवासियों की आकांक्षाओं की

बेहतर जानकारी या समझ राज्य सरकारों को होती है। यहां पंचायती राज्य के अनुभव को भुलाना घातक सिद्ध होगा। संविधान में सत्ता के जनता को हस्तांतरित करने वाले इस ऐतिहासिक संशोधन को पारित करते वक्त यह कल्पना की जा रही थी कि संकीर्ण दलगत पक्षधरता से उबरने का अवसर अब जनता को मिलेगा और भ्रष्टाचार नागरिक-मतदाता की सतर्कता से क्रमशः तेजी से घटेगा। वास्तव में पंचायतों के 'निर्दलीय' चुनाव राजनैतिक दलों को बाहर रखने में नाकामयाब रहे हैं। देश भर में इनकी हार-जीत सत्तारूढ़ दल तथा विपक्षी दलों की रस्साकशी को ही एक अवसर देती है और घटते-बढ़ते प्रभावों की कसौटी बन चुकी है। स्थानीय स्तर पर नियोजन में न्यस्त स्वार्थों का टकराव सामाजिक समरसता के लिए नुकसानदेह ही साबित हुआ है।

राजनीति शास्त्र के साधारण स्कूली छात्र को पाठ्य पुस्तक से जो जानकारी मिलती है, उसी को अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत भाषा शैली में यहां प्रस्तुत किया गया है, जो प्रभावशाली है। जो बात खटकती है वह यह है कि 'भारत तब' वाले पूर्वार्द्ध में जितने विस्तार से मौलिक स्रोतों के आधार पर जालान ने आर्थिक विकास विषयक सैद्धांतिक चिंतन का सार संक्षेप पाठकों के लिए किया है, उसका सारांश भी यहां देखने को नहीं मिलता। समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं के स्तंभकारों के लेखों को ही अपने मत के पक्ष में प्रस्तुत करना यथेष्ट समझ लिया गया है।

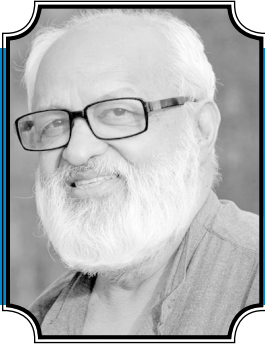
इस सब के बावजूद पुस्तक प्रतियोगी परीक्षाओं के प्रत्याशियों के लिए उपयोगी है, क्योंकि एक ही जगह भारत के आर्थिक विकास और राजनैतिक प्रणाली की सफलता-विफलता का संक्षिप्त सटीक सर्वेक्षण यहां सुलभ है। इसके अलावा उदीयमान चुनौतियों और संस्थागत कमजोरियों का उल्लेख भी लेखक द्वारा तर्कसंगत तरीके से किया गया है। विश्लेषण आत्मक उत्तर को संवारने के लिए और अपनी निजी राय बनाने में यह पुस्तक

निश्चय ही मददगार होगी। भाषा सहज बोध गम्य है और जरा मेहनत करने वाले हिंदी माध्यम के छात्रों के लिए बाधक नहीं।

इसी तरह जालान इस बात से भी चिंतित हैं कि हमारे निर्वाचित जन प्रतिनिधि-सांसद तथा विधायक-भी अपने पारंपरिक विशेषाधिकारों का दुरुपयोग ही करते हैं। लेखक का मानना है कि सदन की कार्यवाही में आदतन या साजिश के तहत बाधा पहुंचाकर कार्यवाही को स्थगित करवाने की छूट किसी भी दल के सदस्य को नहीं होनी चाहिए। उनकी राय है सदन के अध्यक्ष को अपने अधिकारों का प्रयोग कर ऐसे सदस्यों को दंडित-निष्काषित करना ही चाहिए। सदन के कार्य संबंधी नियमों में परिवर्तन कर स्थगन को कठिन विकल्प, अपवाद जैसा बनाए बिना सदन में किसी भी विधेयक या विकास संबंधी परियोजना की चर्चा असंभव होती जा रही है।

यहां यह जोड़ने की जरूरत है कि जालान का राज्य सभा का अनुभव नामजद सदस्य के रूप में रहा है, निर्वाचित सदस्य के रूप में नहीं। ऐसे सदस्य निर्दलीय समझे जाते हैं भले ही उनका नामांकन सत्तापक्ष ही करता है। अतः इस टैकनौक्रेट के लिए यह समझना मुश्किल है कि चुनावी राजनीति के समीकरण साधकर सदन में पहुंचने वाले सांसद या विधायक की समझौता परस्त मजबूरियां क्या होती हैं? खासकर जब वह किसी ऐसे छोटे दल का सदस्य या नेता हो जो साझा सरकार या विपक्षी मोर्चे में संख्या बल से वंचित हो। यह आशा करना व्यर्थ है कि निकट भविष्य में इस स्थिति में सुधार हो सकता है। लेखक का मानना है कि यदि दल-बदल कानून को संशोधित कर सख्ती से लागू किया जाए, तब कुछ फर्क पड़ सकता है। यहां भी यह सोचना भोलापन ही कहा जाएगा कि वर्तमान सांसद, विधायक स्वयं अपने स्वार्थों को संकुचित करने वाले ऐसे कानून पारित करेंगे।

□□□



हाऊ इंडिया सीज द वर्ल्ड

लेखक : श्याम शरण

प्रो. पुष्पेश पंत

भारत की विदेश नीति पर लिखी गई किताबों का भण्डार बहुत बड़ा है। एक छोटा-मोटा पुस्तकालय इन से आसानी से भरा जा सकता है। शीत युद्ध के युग में नेहरू ने गुटनिरपेक्षता की जो नीति अपनाई थी। वह पारंपरिक पश्चिमी विश्लेषकों के लिए एक अजूबा सी थी। इसका अध्ययन करने वाले और व्याख्या करने वालों की कभी भी कमी नहीं रही। कई विद्वानों ने इसकी जड़े भारत की आजादी की लड़ाई की मूल्यों में तलाशी तो कुछ इतिहासकारों ने मिथकों-पुराणों से लेकर बुद्ध की अहिंसा, अशोक की धर्म विजय और अकबर की सुलहकुल वाली नीति से इसके सूत्र जोड़े। ऐसी आमधारणा है कि जवाहरलाल नेहरू की गहरी रूचि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में थी और इंग्लैण्ड में बिताये गये छात्र जीवन के अपने वर्षों से ही इस विषय की उनकी जानकारी आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाले अन्य नेताओं की तुलना में कहीं अधिक थी। इसीलिए उन्हें ही आजाद भारत की विदेश नीति का जनक माना जाता है और यह बात निर्विवाद समझी जाती है कि भारत का विश्व दर्शन नेहरू की सोच और उनकी दृष्टि पर ही आधारित है।

यहां इस बहस में पड़ने की जरूरत नहीं कि क्या नेहरू अकेले भारत के

विश्व दर्शन या विदेशनीति के लिए अकेले जिम्मेदार है, पर बात शुरू करने के लिए 1947 अर्थात् स्वाधीनता प्राप्ति की वेला एक अच्छा बिन्दु है। इसके साथ ही यह सवाल पूछना जायज़ है कि क्यों इस लेखक ने पुस्तक के उपशीर्षक में कौटिल्य का नामोल्लेख जरूरी समझा है। इसका सबसे आसान उत्तर तो यह है कि नेहरू की शांति प्रिय गुटनिरपेक्ष विदेशनीति को आदर्शवादी माना जाता रहा है और आलोचकों की दृष्टि में यही इसकी सबसे बड़ी कमजोरी सिद्ध हुई जिसके कारण भारत को चीन से विश्वासघात का अनुभव हुआ। इसकी तुलना में चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन और उनके सलाहकार कौटिल्य का राजनीतिशास्त्र पर केन्द्रित ग्रंथ अति यथार्थवादी नीतियों का समर्थन करने वाला माना जाता है। जिसमें बलप्रयोग को नाजायज नहीं माना गया है और राजनय में साम,दान,दण्ड-भेद सभी को अवसरा अनुकूल अपनाने की सलाह दी गई है। इससे यह संकेत मिलता है कि लेखक की नज़र में भारत का विश्व-दर्शन सिर्फ नेहरू युगीन आदर्शवादी नहीं, प्राचीन भारत की परंपरा में भी यथार्थवादी राष्ट्रहित साधक चिंतन देखने को मिलता है। पर इसके साथ ही पाठक के मन में यह कृतुहल पैदा होना भी स्वाभाविक है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि वर्तमान सरकार के

भारत के प्राचीन इतिहास और परंपराओं के प्रति मोह को देख यू.पी.ए. सरकार शिखर पर विराजमान रह चुके इस राजनयिक ने उस सरकार से इतर अपनी एक अलग पहचान बनाने की कोशिश इस पुस्तक के जरिए की है। श्याम शरण भारत के विदेश सचिव रह चुके हैं और इस पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद वह पूर्व-प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के प्रमाणविक मामलों और मौसम बदलाव से जुड़े मुद्दों पर विशेष दूत तथा सलाहकार रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने राष्ट्रीय सुरक्षा-सलाहकार बोर्ड की अध्यक्षता भी की है। उन्हें पेशेवर राजनयिकों में बौद्धिक रुझान का समझा जाता है। उनकी यह पुस्तक कुछ-कुछ संस्मरण, अंशतः ऐतिहासिक सर्वेक्षण और भविष्य में भारतीय विदेशनीति के निर्धारण और क्रियान्वयन के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका भी निभाती नज़र आती है।

बात आगे बढ़ाने से पहले यह टिप्पणी जरूरी है कि बौद्धिक छवि सिर्फ श्यामशरण के साथ नहीं जुड़ी है, उनके पहले भी अनेक भारतीय विदेश सचिव अपने संस्मरण प्रकाशित करा चुके हैं या भारतीय विदेश नीति पर अपने अनुभव के आधार पर चर्चित पुस्तकें लिख चुके हैं। इनमें सुविमल दत्त, टी.एन. कौर, मणि दक्षित, एम.एल. रसगोत्रा के नाम सबसे पहले याद आते हैं।

जो लोग कभी विदेश सचिव नहीं रहे पर जिन्होंने वर्षों विदेश मंत्रालय में काम किया और बाद में राजनीति में पदार्पण के बाद भारत के विश्व-दर्शन, भारतीय विदेश नीति या अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर सारगर्भित पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनमें जगत मेहता, नटवर सिंह और शिव शंकर मेनन के नाम गिनाये जा सकते हैं। इस बात को भी रेखांकित करने की जरूरत है कि इस पुस्तक से कुछ ही महीने पहले श्यामशरण के समकालीन और उनके उत्तराधिकारी विदेश सचिव रह चुके शिव शंकर मेनन की पुस्तक चॉयसेज प्रकाशित हुई है, जो बहुचर्चित रही है और विचारोत्तेजक मानी गई है।

शिव शंकर मेनन विदेशसेवा में भर्ती के पहले चीनी भाषा और राजनीति का विशेष अध्ययन कर चुके थे। उनकी बौद्धिक छवि अवकाश ग्रहण करने के वर्षों पहले से ही प्रतिष्ठित रही है। अपनी सुदीर्घ कार्यकाल में उन्हें कभी भी अवसरवादी या सरकार के साथ बदलने के आक्षेप का सामना नहीं करना पड़ा है। एक सीमा तक यह सवाल उठाना निराधार नहीं कि श्यामशरण की पुस्तक मेनन से पीछे ना रहने की स्वाभाविक ललक का नतीजा है। कार्यकाल में और अवकाश ग्रहण करने के बाद भी दोनों के बीच स्पर्धा यू.पी.ए. सरकार के पूरे कार्यकाल में जारी रही थी और भले ही इस में कभी कटु रूप नहीं लिया, जग जाहिर थी। जहां तक श्यामशरण की सफलता या असफलता का प्रश्न है, इस बात को नजरदांज नहीं किया जा सकता कि जब वह नेपाल में राजदूत थे, उनके नाक तले राजपरिवार का वशनाशक नरसंहार हुआ था और एक ऐसी तख्तापलट जिसने नेपाल में अंतः राजतंत्र का सफाया कर दिया। इसके पहले भी वर्षों से नेपाल में माओवादियों की हिंसक बगावत की वजह से गृहयुद्ध जैसी स्थिति चल रही थी इस पूरे दौर में भारत के हितों को निरापद रखने की जो सलाह-सुझाव शरण देते रहे थे, उनकी नाकामयाबी बहुत जल्दी उजागर हो गई। बहरहाल यह जगह श्यामशरण के राजनय

के मूल्यांकन की नहीं, बल्कि इस पुस्तक की समीक्षा की है।

अतः पुस्तक की भूमिका पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने लिखी है, जिनके वह विश्वासपात्र रह चुके हैं। मनमोहन सिंह के कार्यकाल में ही परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग के उस करार पर अमेरिका के साथ हस्ताक्षर किये गये थे, जिसके बारे में देश में आम सहमति नहीं थी। मनमोहन सिंह ने इसको स्वीकार कराने के लिए अपनी सरकार को दांव पर लगा दिया था। जाहिर है कि उन्होंने इस भूमिका में इस उपलब्धि के संदर्भ में श्यामशरण की प्रशंसा की है। कुछ उसी तरह जैसे पर्यावरणीय मुद्दों पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में भारत की असमंजस वाली स्थिति को तर्कसंगत ठहराने की कोशिश के बारे में। अपनी चिर-परिचित वाली शैली में मनमोहन सिंह बिना कुछ कहे डेढ़ पन्ने में रस्मादायगी के तौर पर लेखक की पीठ थपथपा देते हैं।

पुस्तक की प्रस्तावना बाद में तीन भागों में बांटी गई है। पहले भाग का शीर्षक है, परंपरा और इतिहास, जिसमें तीन अध्याय हैं। पहले में भारतीय विश्वदर्शन के स्रोत तलाशे गये हैं, कुल 15 पन्नों में। इसी में कौटिल्य से लेकर नेहरू तक का कालखण्ड प्राणरक्षक औषधि की टिकीया यानि कैप्सूल की तरह भर दिया गया है। जाहिर है कि अति सरलीकरण और समानीकरण के अलावा इसमें कुछ नहीं साधा जा सकता। जिस तरह महाभारत में अंधे धृतराष्ट्र को भारतवर्ष के भूगोल से और परिवेश से परिचित कराने का प्रयास करता है, कुछ उसी नाटकीय मुद्रा में शरण इस अध्याय को शुरू करते हैं। 2-3 पन्ने पलटते ही यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि इस सामग्री में रत्तीभर भी मौलिक शोध पर आधारित नहीं और न ही लेखक का अपना कोई ऐसा निष्कर्ष है। दूसरों के शोध के निचोड़ से पुष्ट जिससे पाठक को कुछ नई जानकारी या अन्तरदृष्टि मिल सके। माध्यमिक स्कूलों की इतिहास और राजनीतिशास्त्र की पाठ्य

पुस्तकों में यह जानकारी वर्षों से सुलभ है। जिन पाठ टिप्पणियों के आधार पर लेखक ने अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया है, वही कलाई खोल देती है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत सारे अवकाश प्राप्त राजनयिकों और विदेश मंत्रियों की तरह यह पुस्तक मूलतः विदेशी पाठकों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, जिनके लिए अश्वमेध, आमात्य, दुर्ग, स्वामिन, चक्रवर्ती, विजीगिशु जैसे शब्दों का अनुवाद देने की जरूरत पड़ती है। स्वयं नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में या के.एम.पाणीक्कर की पुस्तक सर्वे ऑफ इंडियन हिस्ट्री में यह सारी बातें कहीं अधिक सरस शैली में बेहतर ढंग से जुटाई और पेश की गई है।

अगला अध्याय आजादी से लेकर शीतयुद्ध के अंत तक भारतीय विदेश नीति के सर्वेक्षण को 15-16 पन्नों में किसी बंधुवा मजदूर की घास काटने वाली उतावली के साथ निपटा देता है। इसके जो बुरे नतीजे आये हैं, उसका एकमात्र उदाहरण काफी रहेगा। लेखक के अनुसार इस दौर में भारत और सोवियत संघ के बीच दीर्घकालीन रक्षा विषयक साझेदारी हुई जो चीन और अमेरिका के 1971 में आभासित संधि के कारण और भी पुष्ट हुई। इसे कौटिल्य के मंडल सिद्धांत का वह उत्कृष्ट उदाहरण मानते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से नाममात्र का परिचय रखने वाला मंदबुद्धि छात्र भी यह जानता है कि मंडल सिद्धांत के अनुसार संलग्न पड़ोसी अधिकतर शत्रुवत आचरण करता है और शत्रु का शत्रु स्वाभाविक मित्र होता है। यदि मंडल सिद्धांत ही भारत के राजनयिक समीकरणों को निर्धारित कर रहा होता तो भारत और चीन पाकिस्तान के विरुद्ध स्वाभाविक मित्र होते और अमेरिका को इस खांचे में जबरन डालना जरूरी नहीं होता। विडंबना यह है कि लेखक ने इस अध्याय का शीर्षक तो आजादी से शीतयुद्ध के अंत तक की विदेशनीति का सर्वेक्षण रखा है मगर इसमें नेहरूयुगीन विदेशनीति को नाममात्र के लिए ही 3-4 पन्नों में छुआभर गया है। शायद

इसलिए कि लेखक आज के माहौल में नेहरू की विदेशनीति की असफलता की आलोचना कर अपनी धर्मनिरपेक्षता-उदारता या जनतांत्रिक सोच को कलुशित नहीं करना चाहते। इन 15 पन्नों में भी काफी जगह चीन की वन बेल्ट वन रोड वाली परियोजना ने ले ली है और वर्षों पुरानी 1980 के दशक में एक कनिष्ठ राजनय के रूप में अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर तुलनात्मक आधार पर समानीकरण ही लगता है। इस पूरे अध्याय में कही भी कोई फुटनोट लगाने की जरूरत लेखक ने नहीं समझी है। यह दम्भ भी असहनीय है कि व्यावहारिक राजनय का अनुभव भी इस सर्वेक्षण के लिए यथेष्ट है। जाहिर है कि कोई भी राजनयिक अपने देश की विदेश नीति के सभी आयामों से सूक्ष्म तथ्यों की ऐसी अंतरंग जानकारी की दावेदारी नहीं कर सकता। इस भाग का तीसरा अध्याय शीतयुद्ध के अंत से आज तक भारत की विदेशनीति पर केन्द्रित है। यहां भी असंतुलन जाहिर है और इसी धारणा को पुष्ट करता है कि लेखक ने पुस्तक प्रकाशित कराने की जल्दबाजी में या लेखकीय महत्वाकांक्षा की मरीचिका में भटकते हुए ही प्रकाशित करवाई है। इस पुस्तक में जो फुटनोट है वह अजीबो-गरीब ही है। जैसे अफ-पाक को एक टिप्पणी में अफगानिस्तान और पाकिस्तान का संयुक्त नामोल्लेख बताया गया है जैसे लेखक के अलावा किसी और को यह रहस्य पता ना हो। फॉरन अफेयर्स या गार्डियन जैसे अखबारों के लेखों को उद्धृत कर लेखक ने इस पुस्तक को प्रमाणिक बनाने की चेष्टा की है वह कुलमिलाकर नाकामयाब ही है। यह कह सकना भी कठिन है कि अमेरिकी विश्वविद्यालयों के अंडर ग्रेजुएट छात्र भी इसका लाभ उठा सकते हैं। कुल मिलाकर यह 62 पृष्ठ बिल्कुल बेकार है।

दूसरा अध्याय पड़ोसियों पर केन्द्रित है, जिसमें 5 छोटे-छोटे अध्याय हैं। पाठक को आकर्षित करने के लिए इन अध्यायों के शीर्षक विचारोत्तेजक रखे गये हैं, जैसे-

द चैलेंज ऑफ प्रॉक्सीमिटी, द पाकिस्तान पज़ल, अंडर स्टैन्डिंग चायना, द इंडिया चाइना बॉर्डर डिस्पूट एंड आफ्टर तथा इंडिया एण्ड नेपाल अ रिलेशन ऑफ पैराडॉक्स। इस पूरे भाग में भी सतही जानकारी को अनावश्यक रूप से फैलाया गया है और सरलीकरण तथा दोहराव की भरमार है। उदाहरण के लिए भारत-चीन सीमा विवाद वाली सामग्री को पहले भाग के दूसरे अध्याय में ही जगह दी जानी चाहिए थी। इसी तरह पाकिस्तान को पहलीभर कह देने से कुछ हासिल नहीं होता। विभाजन के साथ ही जिस धर्मराज्य की स्थापना हुई उसके राष्ट्रीय हितों का बुनियादी टकराव भारत के राष्ट्रहित के साथ अनिवार्यतः रहा है। इस पड़ोसी देश में फौजी तानाशाही की स्थापना के बाद जनतंत्र की हत्या बेहरहमी से हुई है और भारत के साथ सहकार की संभावना का निरंतर क्षय हुआ है। शीतयुद्ध के दौर में अमेरिका ने अपने सामरिक हितों की रक्षा के लिए सोवियत संघ की घेराबंदी के लिए पाकिस्तान का उपयोग अपने मोहरे के रूप में किया। सियटो और सन्टो की पाकिस्तान की सदस्यता के कारण ही शीतयुद्ध भारत की दहलीज तक पहुंचा। अमेरिका की सैनिक और सहायता के आधार पर ही भारत की बराबरी करने का पाकिस्तानी दुस्साहस बढ़ता रहा है। फील्ड मार्शल अयूब खान के पद त्याग के बाद जुल्फिकार अली भुट्टों की भूमिका आक्रामक विदेश मंत्री की रही और इस्लामी एटम बम के निर्माण के लिए उन्होंने न केवल सऊदी अरब, ईरान और लीबिया से अपने रिश्ते बढ़ाये बल्कि चीन को भी मित्र के रूप में सहजभाव से ग्रहण किया। चीन और अमेरिका के रिश्तों को सामान्य बनाने के लिए मददगार संदेशवाहक की भूमिका भुट्टों के पाकिस्तान ने निभाई जिसका मुआवजा उसे आजतक मिल रहा है। भला इसमें कौन सी ऐसी पहली है जिस कारण शीर्षक को यह नाम दिया गया है? यह सारी सामग्री भी पहले भाग में ही 2 और 3 अध्याय की विषयवस्तु है।

यहां जरूर ऐसा लगता है कि सारा दोष लेखक का ही नहीं है पुस्तक के संपादक ने भी सामग्री के समुचित वितरण के बारे में लेखक को सही सलाह नहीं दी। चीन वाला अध्याय भी निराश ही करता है। यदि इसकी तुलना श्यामशरण की पुस्तक से करे तो यही लगता है कि शरण का लेखन ऊंची दुकान और फीके पकवान जैसा ही है। वह भले ही चीन में भारत के राजदूत रहे हो चीनी समाज, राजनीति या विदेशनीति के बारे में कोई विशेष अन्तरदृष्टि उनके पास नहीं, जिसका साझा वह पाठक के साथ कर सकें। चीन को समझने के लिए पाणीक्कर, के.पी.एस. मेनन, जगत मेहता की टिप्पणियां कहीं अधिक उपयोगी हैं। शिव शंकर मेनन तो गागर में सागर भरने में माहिर है और बिना अपना पांडित्य पाठक पर थोपे उसे बहुत कुछ जानकारी और विचारोत्तेजक निष्कर्ष दे जाते हैं। इस अध्याय में भी लेखक ने जबरन कन्फ्यूसियस और समकालीन भारतीय चिंतकों की खिचड़ी पकाने की कोशिश की है। यहां भी छिटपुट व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर एक समृद्ध संस्कृति के बारे में सरलीकृत निष्कर्ष पेश किए गए हैं। यह तमाम सामग्री भी विश्व इतिहास की स्कूल-कॉलेज की पाठ्य पुस्तकों में आसानी से मिल चुकी है। लेखक कही भी इस चुनौती का सामना नहीं करता कि साम्राज्यवादी चीन, राष्ट्रवादी चीन, माओवादी चीन और माओ के परवर्ती चीन में कोई अंतर है या नहीं। यह कोई मंदमति ही सुझा सकता है कि चीन की विदेशनीति हजारों साल से किसी भी तरह के परिवर्तन से मुक्त नहीं है और निरंतर यह सभ्यता कन्फ्यूशियाई सिद्धांतों, दिशा-निर्देशों के अनुसार ही जीवनयापन करती रही है। चीन में जितना बदलाव दैंग सावोपिंग के बाद आया है, वही अपने आप में गंभीर विश्लेषण की चुनौती पेश करता है।

यही टिप्पणी भारत और नेपाल वाले अध्याय पर भी की जा सकती है। नेपाल असाधारण रूप से उलझी हुई गुत्थी या अंतरविरोधों वाली अनबूझ पहली नहीं

है। हकीकत यह है कि भारत सरकार के विदेश मंत्रालय द्वारा अहंकारी राजनयिक आचरण के कारण नेपाल में भारत के प्रति असंतोष और द्वेष का प्रसार हुआ है। जिन परिस्थितियों में 1950 में नेपाल में राणाशाही के अंत के बाद संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई उसकी कोई तुलना महाराजा त्रिभुवन के देहांत का नेपाल की राजनीति में अमूलचूल परिवर्तन आया, जिसे समझने में भारत असमर्थ रहा तो सिर्फ इसलिए कि वह चीन के संदर्भ में अपने सामरिक हितों को नेपाल की जनता की जनतांत्रिक अपेक्षाओं से अधिक संवेदनशील समझता रहा। नेपाल के बारे में भारतीय नीति का निर्धारण 1960 के दशक से ही पटरी से उतर गया था जब महाराजा महेन्द्र ने पंचायती जनतंत्र की स्थापना कर सत्ता पुनः अपने हाथ में लेने की सफल चेष्टा की तथा चीन और भारत के बीच में समसामीप्य की नीति अपनाई। इसी दौर में भारत और चीन के संबंध 1962 के बाद तनावग्रस्त हुए और चीन, पाकिस्तान, इंडोनेशिया की धुरी भारत के विरुद्ध काम करने लगी थी। महेन्द्र के निधन के बाद भारत के नेपाल के साथ संबंध उतार-चढ़ाव वाले रहे हैं मगर यह सुझाना तर्कसंगत है कि माओवादी विप्लव के पूरे दौर में भारत ने ऐतिहासिक पूर्वाग्रह के कारण इस पड़ोसी के प्रति ऐसी अदूरदर्शी नीतियों का आचरण किया जिनके परिणाम हमारे राष्ट्रहित के लिए कुल मिलाकर नुकसानदेह ही साबित हुए। इसके लिए नेपाल को अनबूझ पहली की संज्ञा देना गलत है, बल्कि अपनी अदूरदर्शिता और खुले सोच का अभाव है।

दूसरे अध्याय का शीर्षक है पड़ोस पर इसमें जिक्र सिर्फ पाकिस्तान, चीन और नेपाल का किया गया है। दक्षिण एशिया के उन पड़ोसियों का उल्लेख तक नहीं है जो पाकिस्तान और चीन के संदर्भ में ही भारत की विदेशनीति के संदर्भ में नेपाल से कम महत्वपूर्ण नहीं समझे जा सकते। जैसे बांग्लादेश और श्रीलंका या भूटान।

यह बात समझ में नहीं आती कि क्यों लेखक ने उन निकटतस्त पड़ोसियों का वर्णन-विश्लेषण जरूरी नहीं समझा है जहां आज भारत की विदेशनीति कठिन चुनौतियों का सामना कर रही है, जैसे अफगानिस्तान।

पुस्तक के तीसरे भाग को शीर्षक दिया गया है- 'द वाइडर वर्ल्ड' अर्थात् बृहत्तर विश्व। यहां भी पाठक को ना उम्मीद ही होना पड़ेगा। न तो इसमें अमेरिका के साथ सामरिक रिश्तेदार का विश्लेषण है या रूस के साथ विशेष मैत्री संधि के क्षय का। ना यूरोपीय समुदाय के साथ भारत के संबंधों की अहमियत का परीक्षण है या चीन से इतर पूर्व की ओर देखने वाले राजनय को जगह मिली है। जापान हो या दक्षिण पूर्व एशिया यह भू-भाग भारत-चीन संबंधों में निर्णायक भूमिका निभा सकता है। अफ्रीकी महाद्वीप या लातिनी अमेरिका को भी भूतपूर्व सचिव बृहत्तर विश्व के मानचित्र में जगह नहीं देते। हालांकि पुस्तक का यह हिस्सा शेष पुस्तक से अपेक्षाकृत अधिक पठनीय है, क्योंकि इसमें उन घटनाओं का वर्णन है जिनकी ज़्यादा प्रमाणिक व्यक्तिगत जानकारी की दावेदारी लेखक कर सकता है। विदेश सचिव के पदभार से मुक्त होने के बाद लेखक ने मनमोहन सिंह सरकार को ऊर्जा सुरक्षा और परमाणविक सुरक्षा के बारे में परामर्श दिया था। अबतक वह चोटी के राजनय में भाग ले रहे थे। पर यहां भी किस्सागोई के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगता। इस भाग में पहला अध्याय ऊर्जा सुरक्षा और मौसम बदलाव पर केन्द्रित है। दूसरा और तीसरा अध्याय भारत-अमेरिका परमाणविक करार और परमाणविक ईंधन आपूर्क समूह (एनएसजी) के बारे में जानकारी देते हैं। अंतिम दो अध्याय शीर्षक के लिए ही उल्लेखनीय है। कोपेनहागें में एक लंबा दिन अति नाटकीय लगता है और उदीयमान विश्व व्यवस्था का रूपाकार देने में भारत की भूमिका बेहद अदकचरा रह गया है। इन पंक्तियों के लेखक के लिए यह बात बार-बार दोहराना कष्टप्रद है कि

इतने गंभीर विषय को एक सुयोग्य लेखक को इतनी सतही पुस्तक प्रकाशित कराने की जल्दबाजी नहीं करानी चाहिए थी।

उपसंहार में फिर एकबार भूमिका की तरह वेदों के संस्कृत सूत्रों का उद्धरण दिया जाना जरूरी समझा गया है, मगर यहां भी मंत्र शक्ति पराक्रम, जैसे शब्द लेखक की ज़्यादा सहायता नहीं कर पाते। तोतारतंत की ही याद दिलाते हैं।

अब यह सवाल उठता है कि यदि यह पुस्तक इतनी सतही, सरलीकरण, समानीकरण और पूर्व प्रकाशित सामग्री के दोहराव से भरी है तब फिर इसकी समीक्षा ही क्यों की जा रही है। कड़वा सच यह है कि लेखक भारतीय विदेशनीति संचालन के सर्वोच्च पद पर रह चुके हैं और संवेदनशील विषयों में प्रधानमंत्री के सलाहकार भी। उनके पक्षधर देशी-विदेशी मित्र आलोचकों ने इसकी भूरी-भूरी प्रशंसा भी की है, इसलिए पुस्तक चर्चित तो हो गई है। सामान्यज्ञान का अध्ययन करने वाले हर छात्र से यह अपेक्षा की जाएगी कि उसने इस पुस्तक को कम से कम उलट-पुलट कर तो देखा ही होगा। यह समीक्षा उस जरूरत को पूरा करेगी। इसके अलावा इस समीक्षा में उन मुद्दों का जिक्र किया गया है जिनका अभाव पुस्तक में खटकता है। इस किताब की तुलना शिव शंकर मेनन की पुस्तक से भी की गई है। अतः बहुत कुछ विचार उत्तेजक सवाल इस समीक्षा के पाठक के मन में स्वाभाविक रूप से उठेंगे। प्रतियोगी परीक्षा के छात्रों से यह अपेक्षा रहती है कि वह व्यक्तिगत विश्लेषण के आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देंगे। हमारी यह आशा है कि इस काम में भी यह समीक्षा उनकी सहायता करेगी।





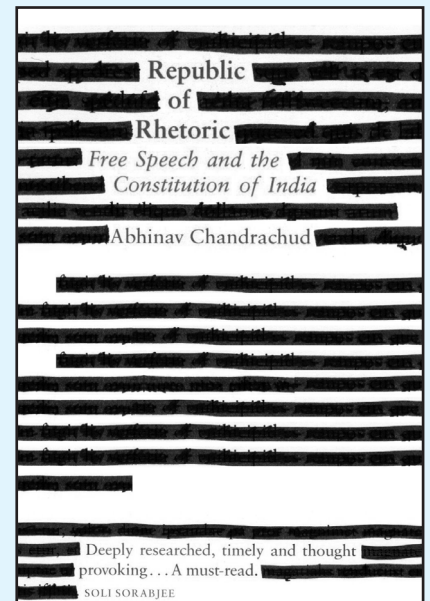
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बुनियादी अधिकार का मुद्दा पिछले चार-पांच साल से निरंतर विवादों को जन्म देता रहा है। हालांकि अनेक उदार-जनतांत्रिक मिजाज के विश्लेषकों का मानना है कि मोदी के सत्ता ग्रहण करने के बाद से ही यह अधिकार संकटग्रस्त हुआ है, पर सच यह है कि यूपीए के कार्यकाल में भी आम आदमी इस बारे में खुद को निरापद नहीं समझ सकता था। आईटी एक्ट की धारा 66-A के तहत कांग्रेस की केन्द्र सरकार और पश्चिम बंगाल की तृणमूल सरकार ने विरोधियों का मुंह बंद करने के जो प्रयास किए थे, उनसे यही प्रमाणित होता है कि सरकार चाहे किसी दल की हो अपने प्रतिपक्षियों को असमति मुखर करने की सहनशीलता दुर्लभ होती है।

बारंबार इंदिरा गांधी द्वारा घोषित आपातकाल की याद दिलाने की दरकार नहीं; आजाद भारत में जनतंत्र के जनक समझे जाने वाले पंडित नेहरू की सरकार के दौर में भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को संकुचित किया जाता रहा था। रमेश थापर बनाम भारत सरकार जैसे 1950 वाले मुकद्दमे को आज भी इस संदर्भ में मील का पत्थर समझा जाता है। बहरहाल, किसी भी जनतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को यथासंभव संरक्षण प्रदान करने की अनिवार्यता के बारे में दो राय नहीं हो सकतीं। विडंबना यह है कि इस विषय

में आधी अधूरी अधकचरी जानकारी के आधार पर ही पक्ष धर, पूर्वाग्रह ग्रस्त गरमागरम बहस लंबे समय से जारी है, जिससे किसी को कोई लाभ नहीं हो सकता। अभिनव चंद्रचूड़ की सद्यः प्रकाशित पुस्तक रिपब्लिक ऑफ रिटोरिक इसीलिए बेहद पठनीय और उपयोगी है, क्योंकि वह तटस्थ भाव से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विविध आयामों को सरल भाषा में सरस शैली में आलोचित करती है। कहीं भी अतिसरलीकरण की चेष्टा नहीं की गई है और न ही एक आयाम को दूसरे से कम महत्वपूर्ण समझा गया है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ नवीनतम मुकदमों और सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों का परीक्षण तर्कसंगत कसौटी पर किया गया है।

पुस्तक के लेखक मुंबई उच्च न्यायालय में वकालत करते हैं और अमेरिका के सबसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में शोध कर चुके हैं। संवैधानिक कानून उनकी विशेषता है। यह बात याद रखने लायक है कि संयुक्त राज्य अमेरिका संसार का सबसे पुराना जनतांत्रिक गणराज्य है और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को किसी भी तरह बाधित करने वाला कानून वहां पारित नहीं हो सकता। लेखक विषय का विवेचन करते वक्त यह कभी भी नहीं भूलते कि भारत और अमेरिका की जमीनी हकीकत में बहुत फर्क है और यह भी कि भारत में आजादी के बाद भी अधिकांश कानून औपनिवेशिक राज

की (दासता की) विरासत हैं, जिन्हें अंग्रेजों ने भारतीय प्रजा को अनुशासित करने के लिए लागू किया था-उनकी इच्छा से उनके हित में नहीं! अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से जुड़े कानून इसका अपवाद नहीं। यह बात अटपटी लगती है कि संविधान निर्मात्री सभा के सदस्यों ने जिनमें अधिकांश स्वतंत्रता सेनानी थे, आजादी के बाद भी इन कानूनों को जस का तस स्वीकार किया। आज 70 वर्ष बाद इस बात का अनुमान लगाना कठिन है कि देश के बंटवारे के बाद जो भीषण रक्तपात हुआ, सर्वनाशक सांप्रदायिक दंगे भड़के उनके मद्दे नजर यही बेहतर समझा गया कि भड़काऊ बयानों पर अंकुश



लगाने के लिए इस अधिकार को संकुचित करना ही बेहतर समझा गया।

लेखक ने बड़े अच्छे तरीके से पाठक को यह याद दिलाया है कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 19(1)1 में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को परिभाषित किया गया है, पर अगले ही अनुच्छेद में 19(2) में इसे न्याय संगत ढंग से संकुचित सीमित करने वाले प्रावधान भी गिनाए हैं। दूसरे शब्दों में यह अधिकार दूसरे सभी बुनियादी अधिकारों की तरह ही अबाध नहीं। इसे संकुचित किया जा सकता है। लेखक यह भी भली भांति स्पष्ट करता है कि नागरिक को प्रदान इस अधिकार के आधार पर ही मीडिया किसी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दावा कर सकता है। संविधान या कानून में उसका कोई अंग विशेषाधिकार नहीं।

इसके बाद लेखक उन अपवादों को रेखांकित करता है जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को संकुचित करते हैं। कोई भी वक्तव्य मौखिक या प्रकाशित ऐसा नहीं हो सकता जो किसी अन्य नागरिक के अधिकारों का उल्लंघन करता हो। अर्थात् किसी की मानहानि करने के बाद अभियुक्त अपने बचाव में इस अधिकार को कवच की तरह इस्तेमाल नहीं कर सकता। व्यक्ति की हतक इज्जती की तरह ही अदालत की अवमानना तथा विधायिका की अवमानना करने वाले बयानों पर भी यह बात लागू होती है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दुरुपयोग राजद्रोह मुखर करने वाले वक्तव्यों को प्रसारित करने के लिए नहीं किया जा सकता। मित्र देशों के साथ संबंधों को खराब करने वाले भाषण तथा बयान देने की छूट भी इस अधिकार का हिस्सा नहीं। विभिन्न समुदायों में वैमनस्य भड़काने वाले तथा शांति एवं व्यवस्था को जोखिम में डालने वाले शब्द भी जो कानूनन आपत्तिजनक नजर आते हैं इस अधिकार को सीमित करते हैं। जाहिर है कि इसी तरह अश्लील अभिव्यक्ति भी वर्जित है। इसी अनुच्छेद में 'अपवादों के अपवाद' की सूची भी दर्ज है। कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति जो वैज्ञानिक

शोध अथवा शिक्षा के लिए आवश्यक हो अथवा पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठान का अंग हो या कलात्मक कृति हो अश्लीलता या किसी व्यक्ति विशेष या समुदाय की मानना का अपराध नहीं समझी जा सकती। संवैधानिक और कानूनी स्थिति साफ करने के बाद चंद्रचूड़ ने बड़े कौशल से इन मुद्दों पर अलग-अलग संक्षिप्त अध्यायों में प्रकाश डाला है।

अदालत की अवमानना, सदन की अवमानना, व्यक्तिगत मानहानि, राजद्रोह, अश्लीलता, शांति और व्यवस्था के लिए जोखिम पैदा करने वाले भड़काऊ बयानों के संदर्भ में भारतीय अनुभव का सर्वेक्षण अलग-अलग अध्यायों में किया गया है। लेखक की विद्वत्ता तो जाहिर है ही उसने बहुत अच्छी तरह यह भी दर्शाया है कि अदालती फैसलों में सिद्धांत तथा व्यवहार के बीच की खाई कितनी गहरी रही है और किस तरह सर्वोच्च न्यायालय के फैसले प्रगतिशील या प्रतिगामी रहे हैं। इस संदर्भ में जो बात भूली नहीं जानी चाहिए, वह यह है कि आजादी के पहले भारत के नागरिक के बुनियादी अधिकारों की बात करना निरर्थक है पर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद और संविधान को अपनाने के बाद भी भारतीय दंड संहिता (इंडियन पेनल कोड) की विभिन्न धाराओं में परिभाषित अपराधों को ध्यान में रख कर ही आज इस विषय पर कोई सार्थक चर्चा हो सकती है। औपनिवेशिक काल में मीडिया पर अंकुश लगाने के लिए अंग्रेजों ने कड़े कानून बनाए थे। इनमें प्रेस रजिस्ट्रेशन एक्ट, सिनेमेटोग्राफ एक्ट, इंडियन ब्रॉडकास्ट एक्ट प्रमुख हैं। व्यक्ति मानहानि तथा न्यायपालिका की अवमानना को दंडनीय अपराध बनाने वाली धाराओं के अतिरिक्त अस्पृश्यता निरोधक कड़ा कानून पारित किया जा चुका है। इसी तरह का कानून महिलाओं को तथा अल्पवयस्क किशोरों के अश्लील चित्रण वाले प्रकाशनों पर भी रोक लगाते हैं।

वास्तव में यह पुस्तक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तक सीमित नहीं। पाठक को भारत के संविधान के निर्माण की प्रक्रिया को

प्रभावित करने वाली राजनैतिक रस्साकशी की जानकारी भी लेखक बिना किसी पक्षधरता के सुलभ कराता है। बहुत सारे विद्वान इसके पहले भी यह कह चुके हैं कि चूंकि भारत ने आजादी किसी क्रांति के परिणाम स्वरूप नहीं, बल्कि सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण से हासिल की थी। भारत के संविधान की नींव सर्वसहमति पर आधारित व्यापक समझौतों पर रखी गई थी।

संविधान निर्मात्री सभा के सदस्यों में नेहरू जैसे 'प्रगतिशील' 'आधुनिक' भी थे और पटेल, प्रसाद, मुंशी, टंडन सरीखे पारंपरिक व्यवस्था के पक्षधर भी। यह खेमे कांग्रेस में ही नहीं अन्य राजनैतिक दलों में भी मौजूद थे। हिंदू धर्म की रक्षा के कटिबद्ध हिंदू महासभा या रामराज्य परिषद से सहानुभूति रखने वाले उनके प्रतिनिधि श्यामा प्रसाद मुखर्जी हों अथवा दलितों के अधिकारों के पक्षधर कानून के विद्वान् अंबेडकर इन सभी का प्रतिनिधित्व इस सभा में था। रियासतों के नुमाइंदे भी मौजूद थे। सर्वसहमति को सर्वश्रेष्ठ विकल्प समझने के कारण ही न केवल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विषय में वरन अन्य बुनियादी अधिकारों के बारे में भी निर्णय लिए गए। जिन विषयों को राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की सूची में रखा गया उन्हें बुनियादी अधिकारों की तरह कानून का संरक्षण प्राप्त नहीं। आज तक यह अंतर्विरोध समाप्त नहीं किया जा सका है और समयानुसार इनकी बदलती प्राथमिकता जटिल कानूनी सवाल पैदा करती रहती है।

चंद्रचूड़ ने एक दिलचस्प घटना का उल्लेख किया है। एक प्रेस सम्मेलन में एक सवाल का जबाब देते तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू ने सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश विवियन बोस को परोक्ष रूप से मूर्ख कह दिया- "ऐसा तो कोई बुद्धिहीन व्यक्ति ही कह सकता है।" उनके इस कथन को न्यायपालिका की अवमानना समझ कलकत्ता बार काउंसिल ने उन्हें नोटिस भेज दिया। नेहरू ने भूल सुधार में जरा भी देर नहीं लगाई। उन्होंने उत्तेजनावश हुई गलती के लिए जज विवियन घोष, सर्वोच्च न्यायालय

के मुख्य न्यायाधीश, कलकत्ता बार कौंसिल के अधिकारियों को अलग से पत्र लिखे और इन्हे तत्काल सार्वजनिक भी कर दिया। जज विवियन घोष ने नेहरू की क्षमा याचना को उदारता से स्वीकार किया, हालांकि मुख्य न्यायाधीश ने यह टिप्पणी जरूरी समझी कि नेहरू को इस तरह के आपत्तिजनक बयान से बचना चाहिए था। लेखक का मानना है कि इस प्रसंग में दोनों ही पक्षों ने जिम्मेदारी का प्रदर्शन किया, परंतु क्या आज यह संभव है?

साधारण नागरिक की बाद छोड़ें स्वयं न्यायपालिका के वरिष्ठ सदस्य वाणी का संयम नहीं रखते और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते नजर आते हैं। हाल के दो मामले इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश मार्कंदेय काटजू को सर्वोच्च न्यायालय से क्षमायाचना के लिए बाध्य होना पड़ा। हालांकि संसद की अवमानना के लिए उन्हें प्रताड़ित नहीं किया गया। कलकत्ता उच्च न्यायालय के पीठासीन जज करनन को अपने उद्दंड आचरण के लिए अनुशासित करना सर्वोच्च न्यायालय ने जरूरी समझा और अवमानना के अपराध में कारावास का दंड सुनाया। यहां एक और रोचक तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है। सदन की कार्यवाही के दौरान किसी भी सदस्य के वक्तव्य को अभिव्यक्ति की संपूर्ण स्वतंत्रता है। इस पर किसी भी तरह का कोई कानूनी प्रतिबंध नहीं। इसे सीमित या संकुचित नहीं समझा जा सकता। सिर्फ सदन का अध्यक्ष आपत्तिजनक अंश को कार्यवाही से निकालने का आदेश दे सकता है अथवा सदस्य के विरुद्ध कोई अनुशासन की कार्यवाही कर सकता है। इसी तरह अदालत की कार्यवाही के दौरान किसी वक्तव्य को भी संकुचित नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं कोई विधायिका का कोई सदस्य या कोई न्यायाधीश सदन या अदालत के बाहर अपने भाषण या लेख में इस विशेषाधिकार का अबाध प्रयोग कर सकता है।

लेखक ने राजद्रोह तथा सांप्रदायिकता अथवा सामाजिक द्वेष भड़काने वाले बयानों से जुड़ी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दावों

का बहुत तर्कसंगत तथा निष्पक्ष विश्लेषण किया है। कश्मीर के अलगाववादियों तथा नक्सल माओवादियों के समर्थकों के उग्र आक्रामक बयानों के कारण पिछले कुछ साल शांति और व्यवस्था के लिए बारंबार संकट पैदा हुआ है। इस बारे में निचली अदालतों और उच्चतर न्यायपालिका के नजरिए में अंतर साफ नजर आता है। जहां सर्वोच्च न्यायालय यह एकाधिक बार स्पष्ट कर चुका है कि किसी भी राजनैतिक विचारधारा के साथ सहानुभूति को राजद्रोह या आपराधिक नहीं समझा जा सकता और हिंसात्मक बगावत के आह्वान के अभाव में मात्र नारेबाजी को अपराध के दायरे में नहीं रखा जाना चाहिए विधिवेत्ता इस बारे में एक राय नहीं कि 'हिंसक विद्रोह के निमंत्रण' और जनतांत्रिक असहमति को उग्र पर शांतिपूर्ण तरीके से मुखर करने वाले प्रदर्शनों के बीच ऐसी कोई सूक्ष्म रेखा स्पष्ट खींची जा सकती है। नेहरू विश्वविद्यालय में कन्हैया कुमार और उनके साथियों पर दायर मुकदमा अभी न्यायपालिका के विचाराधीन है। पर यह कह सकना कठिन है कि इस फैसले के बाद भी यह पेचीदा गुथी हमेशा के लिए सुलझाई जा सकेगी। सर्वोच्च न्यायालय ने राजद्रोह विषयक कानून को असंवैधानिक करार दे, खारिज नहीं किया है और जब तक यह कानून बरकरार है कोई अन्य पीठ वैकल्पिक व्याख्या कर भिन्न फैसला सुना सकती है, जिसे मानने को निचली अदालतें बाध्य होंगी।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन या उल्लंघन सरकार ही नहीं करती जो मीडिया को औपनिवेशिक राज के तेवर में अनुशासित करने में जुटी रहती हैं। कोई भी साधन संपन्न नागरिक अपनी मानहानि के कारण किसी को इस अधिकार से वंचित करने का प्रयास कर सकता है। इस सिलसिले में हाल के दो मुकदमों का उल्लेख जरूरी है। दिल्ली के मुख्यमंत्री केजरीवाल के खिलाफ केंद्रीय वित्तमंत्री अरुण जेटली ने कई करोड़ रुपयों का मुकदमा दायर किया है। इसमें जिरह कर रहे राम जेटमलानी के एक सवाल के बाद जेटली ने मानहानि के

दावे की रकम और भी बढ़ा दी। मुकदमा फिलहाल जारी है और इस फैसले से भी राजनैतिक विपक्षियों को लांछित कलंकित करने वाली घटनाओं पर रोक लग सकती है। दूसरा उदाहरण सुनंदा पुष्कर कथित हत्याकांड वाला है। शशि थरूर ने दिल्ली उच्च न्यायालय में यह याचिका दायर की थी कि रिपब्लिक टीवी तथा अर्नब गोस्वामी पर इस मुकदमे के बारे में अनर्गल वक्तव्य देने पर रोक लगाई जाए, क्योंकि वह न केवल न्यायिक प्रक्रिया को दूषित कर रहे हैं, बल्कि उनकी मानहानि भी करते जा रहे हैं। फिलहाल अदालत ने कोई स्थगनादेश देने से इंकार कर दिया है भले ही इस चैनल को संयम बरतने का निर्देश दिया है। मद्रास उच्च न्यायालय के एक पीठासीन जज ने हाल में एक मुकदमे की सुनवाई के दौरान एक विचारोत्तेजक टिप्पणी की है। उनके अनुसार किसी नागरिक की मानहानि के प्रसंग में सरकार को हस्तक्षेप की दरकार नहीं और न ही उसे स्वयं मुकदमा दायर करने या इकतरफा जांच के आदेश देने की कोई जरूरत है। ऐसे विवाद सामान्य कानूनी प्रक्रिया के तहत ही चलने चाहिए।

एक अन्य प्रसंग उल्लेखनीय है। राडिया टेप प्रकरण में प्रसिद्ध उद्योगपति रतन टाटा ने निजता के अधिकार की दुहाई देकर मीडिया के अभिव्यक्ति के अधिकार को चुनौती दी थी। उस वक्त तक यह तय नहीं था कि ऐसा कोई बुनियादी अधिकार है भी या नहीं। आज सर्वोच्च न्यायालय की एक बड़ी संवैधानिक पीठ यह निर्णय कर चुकी है कि मानवीय गरिमा के साथ जीवित रहने के बुनियादी अधिकार का अभिन्न अंग निजता का अधिकार भी है। यहां एक नयी गुथी उलझती नजर आ रही है। सूचना के अधिकार का ताल मेल निजता के बुनियादी अधिकार से कैसे कोई बैठा सकता है? इसके पहले भी कुछ विद्वान् वकील यह तर्क देते रहे हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार में मौन रहने का अधिकार भी शामिल है। मीडिया की अभिव्यक्ति का अधिकार नागरिक को जरूरी समाचार तथा सूचनाएं देने का अधिकार भी है। इसी कारण मीडिया को जनतंत्र का चौथा

स्तंभ कहा जाता रहा है। यदि यह अधिकार बाधित होता है तो जनतंत्र को निरापद नहीं समझा जा सकता।

चंद्रचूड़ ने अपने सटीक विश्लेषण से यह बात उजागर कर दी है कि हाल के वर्षों में अदालत की अवमानना विषयक कानून में बहुत संशोधन ब्रिटेन समेत बहुत सारे देशों में हुए हैं। विधायिका के विशेषाधिकारों के बारे में भी पुनः विचार हो रहा है। मात्र भारत की विभिन्न सरकारें इनको अपनाने में हिचकती रही हैं। संभवतः न्यस्त स्वार्थों की रक्षा के लिए यह सवाल मात्र अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तक ही नहीं, सत्ता के विभाजन की असलियत और न्यायपालिका की स्वाधीनता से भी जुड़ा है। यदि इनके क्षेत्राधिकारों को लेकर विवाद उत्पन्न होता है तो इसकी पहरेदारी के लिए सतर्क निष्पक्ष मीडिया अनिवार्य है।

इस पुस्तक का एक हिस्सा अश्लीलता तथा अन्य आपत्तिजनक विषयों पर केन्द्रित है। अश्लीलता की परिभाषा देश काल के सापेक्ष है। समयानुसार इस बारे में समाज की सोच बदलती रही है। यह भी नकारा नहीं जा सकता कि एक ही समय में एक ही समाज के विभिन्न तबके किस कथन या चित्रण को अश्लील और नुकसानदेह समझते हैं और किसे सामान्य। इसी संदर्भ में भारत में विभिन्न माध्यमों में अलग-अलग कानूनी पैमानों के कारण जो अंतर्विरोध देखने को मिलते हैं, उनकी तरफ लेखक हमारा ध्यान दिलाता है। सिनेमा के क्षेत्र में सेंट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन इस उद्योग को नियंत्रित करने का काम करता है। इस संगठन को यह जिम्मेदारी औपनिवेशिक राज में सौंपी गई थी। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाले देशप्रेमियों की जुबान बंद करने के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध ने इसे सेंसर जैसा बना दिया।

रेडियो और टेलिविजन दशकों हमारे देश में सरकारी एकाधिकार रहे हैं। सर्वोच्च न्यायालय के एक महत्वपूर्ण फैसले के बाद प्रसार भारती एक्ट पारित किया गया है।

इसके बाद आकाशवाणी तथा दूरदर्शन को सार्वजनिक प्रसारक (पब्लिक ब्रॉड कास्टर) के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसके साथ ही निजी क्षेत्र के टीवी चैनलों एवं एफएम रेडियो स्टेशनों की बाढ़ ने अभिव्यक्ति के वैकल्पिक गैर सरकारी माध्यम सुलभ करा दिए हैं। इसे एक जनतांत्रिक उदीयमान प्रवृत्ति माना जाता रहा है। पर हाल के महीनों में अखबारों तथा टीवी चैनलों के स्वामित्व के एकाधिकार के सवाल ने इस संभावना पर सवालिया निशान लगा दिए हैं। आज समाचारों और विज्ञापनों में अंतर करना कठिन हो गया है। चुनाव आयोग तक खरीदे बेचे जा रहे समाचारों को लेकर चिंतित है। इस रोग ने भी भारतीय जनतंत्र में नागरिक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का अवमूल्यन किया है।

सामाजिक मीडिया को नियंत्रित करने का एक प्रयास आइटी एक्ट में संशोधन के द्वारा किया गया था। जिसकी धारा 66-A को सर्वोच्च न्यायालय ने असंवैधानिक करार दे निरस्त कर दिया है। यूपीए सरकार ने गूगल, याहू, फेसबुक आदि पर दबाव डाल कुछ वेबसाइटों का निषेध करने की मांग की थी। उस सरकार पर भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करने का आरोप लगा था।

विकृत मानसिकता और यौनाचार को उकसाने वाली अश्लीलता के अतिरिक्त इससे किसी धर्म या समुदाय विशेष की भावनाओं को ठेस पहुंचने से शांति और व्यवस्था के नष्ट होने की आशंका से भी सरकार ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अबाध नहीं रख सकती। पर यह याद रखना जरूरी है कि जिन पुस्तकों को औपनिवेशिक राज में अश्लील समझ प्रतिबंधित किया गया था उनमें से अनेक आज पाठ्यक्रम में शामिल हैं। आज बच्चे जल्दी वयस्क हो रहे हैं और टेलिविजन तथा इंटरनेट के जरिए उन्हें ऐसी सामग्री सुलभ है, जिसे अवांछनीय करार दे कर भी सरकार प्रतिबंधित नहीं कर सकती।

सलमान रुश्दी की पुस्तक 'सैटैनिक वर्सेज' से लेकर 'उड़ता पंजाब' जैसी फिल्मों

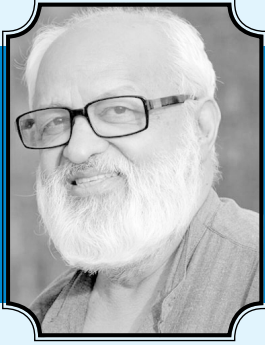
पर यह बात लागू होती है। एनसीईआरटी की समाज विज्ञान की पाठ्य पुस्तकें हों या विश्वविख्यात चित्रकार एमएफ हुसैन के हिंदू देवी देवताओं के चित्र अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को असली खतरा गैर कानूनी कट्टरपंथी बलवाई भीड़ से है।

आजादी के बाद इस व्यवस्था को जारी रखने के दुष्परिणाम 1975 में आपातकाल में देखने को मिले। दशकों बाद भारतीय जनतंत्र के इस काले अध्याय में बुनियादी अधिकारों के संरक्षण में असमर्थ रहने को सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं शर्मनाक माना था और भारत के नागरिकों से क्षमायाचना की थी।

वर्तमान सरकार के आलोचकों को लगता है कि आज भी कुछ वैसी ही स्थितियां पैदा हो रही हैं। स्वदेशी संस्कृति के नाम पर नागरिकों पर एक ऐसी अंधविश्वासी दकियानूस मानसिकता थोपी जा रही है जो साहित्य या फिल्मों-नाटकों तक सीमित नहीं। अपनी इच्छानुसार खाने-पीने और जीवन यापन के उनके बुनियादी अधिकार का हनन क्रमशः बढ़ता जा रहा है। कानून अपने हाथ में लेने वाले बाहुबली गोरक्षकों के हाथों प्रताड़ित मारे जाने वाले निर्दोष नागरिक हों या नैतिक पुलिस के अत्याचार इनको अनदेखा नहीं किया जा सकता। दलितों तथा महिलाओं के विरुद्ध जघन्य अपराधों की बाढ़ के बावजूद ऐसे अपराधों को अंजाम देने वाले असामाजिक तत्वों की संख्या कम नहीं।

लेखक पाठकों को निरंतर इस बात की याद दिलाता है कि कानून के राज के लिए असली संकट तभी पैदा होता है, जब आहत व्यक्ति अपनी शिकायत मुखर नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का बुनियादी अधिकार प्राथमिक है। जब किसी अन्य बुनियादी अथवा मानवीय अधिकार का उल्लंघन होता है तो इसके प्रतिकार के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही सही औजार या हथियार है।





प्रो. पुष्पेश पंत

हिट रिफ्रेश

दि क्वेस्ट टू रीडिस्कवर माइक्रोसॉफ्ट सोल एण्ड इमेजेन ए बेटर फ्यूचर फॉर एवरीवन

लेखक : सत्या नडेला

सत्या नडेला के नाम से शायद ही कोई पढ़ा-लिखा भारतीय अनजान हो। वह विश्व-विख्यात कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर माइक्रोसॉफ्ट के सीईओ है। माइक्रोसॉफ्ट कंपनी के लगभग साढ़े तीन दशक पुराने इतिहास में अबतक सिर्फ 3 सीईओ रहे हैं और उनके पहले दोनों सीईओ बिलग्रेट्स तथा इस्टीव बामर इस कंपनी के संस्थापक हैं। न केवल चोटी के इस पद पर पहुंचने वाले वह पहले भारतीय हैं अपितु वह संस्थापकों की छोटी सी बिरादरी के बाहर पहले व्यक्ति हैं। यह बात याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि बिलग्रेट्स का शुमार दुनिया के सबसे अमीर आदमियों में होता है। टाइम जैसी पत्रिकायें बिलग्रेट्स का चित्र एक से अधिक बार अपने मुख पृष्ठ पर छाप चुकी हैं और उन्हें दुनिया के सबसे ताकतवर व्यक्तियों में माना जाता है। उनकी कंपनी का बनाया सॉफ्टवेयर एपल को छोड़कर सभी पीसी (पर्सनल कम्प्यूटरर्स) को चलाता है और विन्डोज़ जैसे प्रोग्राम के बिना आज किसी भी व्यापार, उद्योग या सरकारी कामकाज का संचालन असंभव जान पड़ता है। यह पुस्तक बिलग्रेट्स की गौरवगाथा नहीं, बल्कि एक होनहार भारतीय की आपबीती है, परन्तु तब भी बिलग्रेट्स की उपलब्धियों का जिक्र करना जरूरी है कि यह संदर्भ अच्छी तरह समझ में

आ सके कि सत्यानडेला किस विरासत की उत्तराधिकारी है और उनकी जिम्मेदारी कितनी बड़ी है और उनके सामने चुनौतियां कितनी जटिल।

बात आगे बढ़ाने के पहले एक और चीज़ का उल्लेख परमावश्यक है। बिलग्रेट्स ने न केवल बेशुमार दौलत कमाई है बल्कि दोनों हाथ से अपनी दौलत को दुनियाभर के वंचितों-निर्धनों और पीड़ितों की जिंदगी में बेहतरी के लिए खुले हाथ से परोपकारी कार्यों में खर्च किया है। बिल और मिलिन्डाग्रेट्स फाउण्डेशन ने विश्वभर में एचआईवी के प्रतिरोध के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया है और भारत जैसे विकासशील देश के पिछड़े इलाकों में शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं में बेहतरी के लिए बड़े पैमाने पर न केवल पूंजी निवेश किया है बल्कि सतर्कता के साथ इनकी निगरानी भी की है, ताकि धन या श्रम का अपव्यय ना हो। इसबात का जिक्र इसलिए जरूरी है कि बिलग्रेट्स के लिए सिर्फ एक आविष्कारक उद्यमी के रूप में सफलता ही सब कुछ नहीं। उनके व्यक्तिगत जीवन मूल्य उनकी कंपनी के कामकाज को भी निर्णायक रूप से प्रभावित करते रहे हैं। शायद इसीलिए सीईओ के रूप में सत्यानडेला को चुना गया, क्योंकि उनके नैतिक एवं मानवीय मूल्य माइक्रोसॉफ्ट की आत्मा से मेल खाते हैं।

सत्यानडेला अकेले ऐसे भारतीय नहीं जो किसी बड़ी अमेरिकी कंपनी में मुख्य कार्यकारी अधिकारी हो या उसके अध्यक्ष। पहले-पहल पेप्सी कंपनी की सीईओ बन कर इंदिरा नूई ने यह उपलब्धि दर्ज कराई। उसके बाद से मास्टर्डकार्ड के अध्यक्ष अजय बांगा और सीटी बैंक के पंडित चोटी के इस पद पर पहुंचे। आज गूगल कंपनी के सीईओ पद पर भी एक प्रतिभाशाली भारतीय सुन्दर पिचई विराजमान है।

यहां दो बातों को रेखांकित करने की जरूरत है- कितने प्रवासी भारतीय या भारतवंशी आज अमेरिका में या यूरोप में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सीईओ हैं या सरकार में ऊंचे पदों पर काम कर रहे हैं इसकी गिनती बार-बार गिनाना और उनकी उपलब्धियों से गौरवान्वित होना बेकार है। इसे समय का अपव्यय ही समझा जा सकता है। इन भारतीयों की उपलब्धियों में भारत का योगदान नाममात्र का ही कहा जा सकता है, इनमें से अधिकांश शिक्षा समाप्त करने के साथ उच्चतर शिक्षा या शोध के लिए विदेश चले गये और फिर वहीं बस गये। भारत के प्रति इनका भावनात्मक लगाव चाहे जितना भी रहा हो आज यह अमेरिका, कनाडा या ब्रिटेन के नागरिक हैं और इनकी कार्यशैली जीवन-दर्शन अपनी जन्मभूमि के संस्कार या जीवन-मूल्यों से संचालित नहीं होता।

यह बात स्वीकार करने के साथ सवाल यह उठता है, तब आखिर क्यों हमको इनकी आत्मकथा या संस्मरणों में मनोरंजन से इतर कोई दिलचस्पी होनी चाहिए।

वास्तव में सत्यनडेला ने अपनी पुस्तक का जो उपशीर्षक रखा है, उसी में इस सवाल के हल करने वाली कुन्जी है। उपशीर्षक के दूसरे हिस्से में यह बात सुझाई गई है कि माइक्रोसॉफ्ट की आत्मा को फिर से पहचानने का प्रयास अनिवार्यतः सभी का भविष्य का बेहतर बनाने के सपने के साथ अनिवार्यतः जुड़ा है।

भारतीय दर्शन का मूलमंत्र है- आत्मानम विद्धी अर्थात् अपने आप को पहचानो बिना कर्मकाण्डी आस्तिक हुये इस बात को स्वीकार करने में किसी को हिचक नहीं होनी चाहिए कि आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप है। सर्वशक्तिमान ईश्वर को बीच में ना लाइये हर मनुष्य एक बुनियादी स्तर पर दूसरे मनुष्य से जुड़ा है, इसी नींव पर अविभाज्य सार्वभौमिक मानवाधिकारों का भव्य भवन खड़ा किया जा रहा है। यदि हम अपने लिये बेहतर जीवन की अकांक्षा करते हैं तो हमें यह बात स्वीकार करनी ही होगी कि दूसरों के जीवन को बेहतर बनाये बिना हमारा अपना भविष्य निरापद नहीं रह सकता। भूमंडलीकरण के इस युग में सामाजिक विषमता की खाई बहुत तेजी से गहराई है और इसके कारण सामाजिक अस्थिरता और विस्फोटक राजनैतिक अराजकता का बीजारोपण हुआ है। इसीलिए बार-बार भूमंडलीकरण को मानवीय चेहरा देने की बात कहीं जाती है। मगर यदि यह मानवीय चेहरा सिर्फ मुखौटा ही रहता है तब फिर स्थिति में किसी सुधार की कल्पना नहीं की जा सकती।

यह दावा हर बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनी करती है कि वह जो कुछ भी करती है बहुजन हिताये, बहुजन सुखाय ही करते हैं। इस दावे को यथावत स्वीकार करना बहुत कठिन है। पूंजीवादी व्यवस्था में मुनाफा ही सर्वोपरि होता है और जिस उत्पाद को या प्रक्रिया प्रणाली को यह व्यवस्था बाजार

में स्थापित करती है उसकी सफलता की कसौटी कंपनी का नफा-नुकसान ही होता है। शुद्ध पूंजीवादी जीवन-दर्शन लाभ-लागत पर ही आधारित होता है और मांग और पूर्ति के तर्क को इसी के अनुसार संचालित करने का प्रयास करता है। इसलिए यह बात जरा अटपटी लगती है या माइक्रोसॉफ्ट या दूसरी बड़ी कंपनी अपनी आत्मा की बात करे। हां, यह जरूरत सच है कि हर बड़ी कंपनी की अपनी संस्कृति होती है जो उसकी कार्यशैली को प्रभावित करती है और गलाकाट प्रतिस्पर्धा के दौर में उसकी सफलता या विफलता के लिए जिम्मेदार होती है। जिस तरह राजनैतिक जीवन में बड़ी शक्तियों का उत्थान और पतन होता है वैसा ही कुछ बड़ी कंपनियों के बारे में भी कहा जा सकता है।

20 वीं सदी में आरंभिक दौर में अनेक ऐसी कंपनियां थी जो मोटरवाहन उद्योग, तेल-खनन या रासायनिक-औषधि निर्माण से जुड़ी थी। फोर्ड, जनरल मोटर्स, जनरल इलैक्ट्रिक और प्रमुख तेल कंपनियों, बोबिल एक्सॉन आदि के नाम इनमें गिनाये जा सकते हैं। 20 वीं सदी के मध्य तक इनमें से कई कंपनियों का रूपांतरण शुरू हो गया था। औद्योगिक क्रांति ही नहीं चमत्कारी रासायनिक और परमाणविक आविष्कार भी इतिहास की किताबों में दर्ज होने लगे थे। दूसरी औद्योगिक क्रांति कम्प्यूटरों और इलैक्ट्रॉनिक उपकरणों से जुड़ी थी। यंत्रों का अतिसूक्ष्मीकरण और कम्प्यूटरों का निरंतर परिष्कार विज्ञान के सीमाती शोध पर आधारित था। यही वह दौर था जब बिलग्रेट्स ने माइक्रोसॉफ्ट स्थापना की और उनकी प्रमुख प्रतिद्वंद्वी स्टीव जॉब्स ने एपल की। सूचना टेक्नोलॉजी क्रांति का जो चर्चा बारंबार होता है उसकी कल्पना माइक्रोसॉफ्ट और एपल के बिना नहीं की जा सकती। यह दोनों कंपनियां भले ही पूंजीवादी समाज की संताने हैं, इनका स्वभाव और चरित्र कहीं ना कहीं व्यक्ति को समर्थ सबल बनाने वाला रहा है और कहीं ना कहीं शायद अकस्मात् उसने नागरिक के रूप

राज्य की पकड़ को कमजोर किया है। मोबाइल टेलिफोनों और इंटरनेट ने जिस कल्पित यथार्थ (वर्चुवल रियलटी) की सृष्टि की है। उसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानवाधिकारों की अविभाजिता को निश्चय ही नये सिरे से परिभाषित किया है। शायद इसीलिए माइक्रोसॉफ्ट कंपनी की आत्मा से पुनः परिचय इस घड़ी जरूरी लगता है।

लेखक ने इस पुस्तक को 9 अध्यायों में बांटा है जिसमें पहला अध्याय सत्यनडेला की लड़कपन और तरुणाई के दिनों के बारे में हैं। सत्यनडेला कहीं भी यह दिखावा नहीं करते कि उनके बचपन के दिन अभाव में या संघर्ष में बीते हैं। उनके पिता आईएस के आला अफसर थे और मां ने आर्कटेक्चर की पढ़ाई पूरी की थी। मां-बाप दोनों अपनी सफलता का दबाव अपने बेटे पर नहीं डालना चाहते थे। उन दोनों की इच्छा यही थी कि अपने पारंपरिक संस्कार वह सत्या को उत्तराधिकार में दे सके और वह नैतिक मूल्य जिनके अनुसार वह अपना जीवनयापन करते थे। सत्या का परिवार एक उच्च मध्यवर्गीय परिवार था, सभी को इस बात से आश्चर्य हुआ जब सत्या आई.आई.टी की प्रवेश परीक्षा में सफल नहीं हुए। बनना वह इंजीनियर ही चाहते थे अतः उन्होंने हैदराबाद के निकट मणिपाल के एक निजी इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला लिया और वहां इंजीनियरिंग की डिग्री लेने के साथ ही अमेरिका चले गये। अपनी उम्र के दूसरे भारतीय लड़कों की तरह सत्या की दिलचस्पी क्रिकेट में थी और उनके हीरो हैदराबाद से क्रिकेट खेलने वाले एमएल जयसिन्हा थे। मां संस्कृत की विदूषी थी और पिता का रूझान समाजवादी था। यह अचरज की बात नहीं कि अपने विद्यार्थी जीवन में सत्या कार्लमार्क्स के विचारों के संपर्क में आये और कहीं ना कहीं यह भावना उनके मन में घर कर गई कि जिंदगी सिर्फ अपने लिये नहीं जी जाती, उसे तभी सार्थक समझा जाता है जब कहीं ना कहीं आपके जीने से दूसरों की जिंदगी में कुछ फर्क पड़ता हो या

पीड़ितों-वंचितों को अपना भविष्य संवारने का मौका दिलाने में आप सहायक बन सकें। सत्यनडेला और बिलगेट्स के सोच में यही संयोग उनकी कामयाबी का राज है। बिलगेट्स ने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में एक और महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाया है उनके विचार से सत्या के नेतृत्व का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने माइक्रोसॉफ्ट के सबसे सफलतम सॉफ्टवेयर विन्डोज़ को अपने पैर की बेड़ी नहीं बनने दिया। विन्डोज़ से आगे के भविष्य के बारे में सोचा। क्लाउड कम्प्यूटिंग और आर्टिफिशियल इंटेलिजेन्स के महत्व का पूर्वाभास होते हैं। इन्हें माइक्रोसॉफ्ट के कार्यक्रमों में अपनाना शुरू कर दिया। दूसरा अध्याय का शीर्षक है— लर्निंग टू लीड। इसको पढ़ते-पढ़ते इस बात की अनुभूति होती निरंतर होती है कि भारतीय और अमेरिकी परिवेश में कितना अंतर है? भारत में नौजवान कितना भी प्रतिभाशाली हो उसको जो जिम्मेदारियां सौंपी जाती है या उसको अपने कार्याधिकार क्षेत्र में निर्णय लेने की जितनी स्वाधीनता होती है वह कितनी सीमित है। वरीयता और अनुभव की गठरी का बोझ हर वक्त अपने कांधे पर लादे रहने वाले गुरुजन या ऊपरी अधिकारी पीठ पर सवार रहते हैं। सफलता का श्रेय उनका होता है और असफलता का ठीकरा अधीनस्त के सर फूटता है। मौलिकता बहुत शीघ्र कुठित होती है और कोई भी युवा अपने कैरियर को दांव पर लगा जोखिम नहीं लेना चाहता। इसके विपरीत अमेरिका में विश्वविद्यालयों और काम करने की जगह युवा शोधछात्र या कर्मचारी को अपनी प्रतिभा परिश्रम या कौशल को प्रदर्शित-प्रमाणित करने के मौके मिलते हैं। तीसरे अध्याय में सत्यनडेला ने उस अनुभव को दर्ज किया है, जब माइक्रोसॉफ्ट ने पटरी बदलना शुरू कर दिया था। उसे इस बात का एहसास होने लगा था कि सिर्फ विन्डोज़ सॉफ्टवेयर के सहारे कंपनी प्रगति नहीं कर सकती। पीसी अर्थात् पर्सनल कम्प्यूटर के दिन पूरे हो चुके थे मोबाइल फोन और टैबलेट ने पीसी का

स्थान लेना शुरू कर दिया था। माइक्रोसॉफ्ट का प्रतिद्वंद्वी एपल जो कभी बाजार में पिट चुका था वह फिर से नये उत्पादों आईपोड, आईफोन और आईपैड के सहारे संसार का सबसे मूल्यवान ब्राण्ड बनकर उभरने लगा था। इसीलिए सत्यनडेला ने माइक्रोसॉफ्ट में क्लाउड कंप्यूटिंग वाला विभाग संभाला। यही वह बिलगेट्स के संपर्क में आये और उनका साक्षात्कार माइक्रोसॉफ्ट की आत्मा से हुआ।

अगले अध्याय में लेखक उस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का जिक्र करता है जो शायद किसी भी कंपनी को बार-बार कायाकल्प कर निरंतर लाभदायक और सफल बनाये रखता है। इस सफलता का रहस्य यह है कि सबकुछ जानने का दांव करने के बदले सबकुछ सीखने पर जोर देना अधिक बड़ी प्राथमिकता है। पांचवे अध्याय में सत्यनडेला ने एक ऐसी बात की ओर अपने पाठकों का ध्यान दिलाया है जो अक्सर अनदेखी रहती है या जिसे लोग स्वीकार नहीं करना चाहते। लेखक के अनुसार बाजार में किसी भी कंपनी का जो बड़ा प्रतियोगी या प्रतिद्वंद्वी होता है उसे शत्रु नहीं, बल्कि साझेदार समझना चाहिए। कभी एक-दूसरे के जानलेवा दुश्मन समझे जाने वाले माइक्रोसॉफ्ट और एपल दोनों ही एकसाथ मिलकर काम कर रहे हैं। बरसों तक विन्डोज़ का बहिष्कार करने के बाद अब मैक कंप्यूटरों और आईफोन पर विन्डोज़, एक्सेल, पावर पॉइंट और आउटलुक जैसे सॉफ्टवेयर सुलभ है। इन अमेरिकन कंपनियों को लगता है यदि इन्होंने एकसाथ मिलकर काम नहीं किया तो यह अपने पूर्व एशियाई, चीनी, कोरिया प्रतिद्वंद्वियों से पिछड़ जायेंगे।

इस बात से कोई भी बेखबर नहीं की सार्वजनिक जीवन में कंप्यूटरों के प्रसार ने नये-नये संकटों को उजागर किया है। 20 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में माइक्रोसॉफ्ट की सबसे बड़ी चिंता कंप्यूटर प्रोग्रामों की तस्करी को लेकर थी। आज यह बात बेमानी लगने लगी है एक तो माइक्रोसॉफ्ट और दूसरी कंपनियों को यह स्वीकार करना पड़ा है कि

इस तरह की तस्करी को पूरी तरह रोका नहीं जा सकता, खासकर यदि यह तस्करी चीन जैसे बाजार में जड़े जमा चुकी हो। कंप्यूटर सॉफ्टवेयर के विकास में लिनेक्स का आगमन भी एक क्रांतिकारी घटना थी। ओपन सॉफ्टवेयर के आधार पर एन्ड्रॉइड जैसे जो सॉफ्टवेयर विकसित हुए हैं, उन्होंने माइक्रोसॉफ्ट को नये क्षितिज तलाशने को मजबूर किया है। क्लाउड कंप्यूटिंग का विकास इसी का नतीजा है।

क्लाउड कंप्यूटिंग के साथ कई नई जटिल चुनौतियां प्रकट हुईं। जहां इसने उपभोक्ता को भारी-भरकम कंप्यूटरों और खर्चीले सॉफ्टवेयर के निरंतर नवीकरण से मुक्ति दिलाई, वहीं साइबर सुरक्षा के बारे में गंभीर आशंकायें पैदा होने लगीं। अमेरिका जैसे समाज में निजता का अधिकार एक संवेदनशील मुद्दा है और व्यक्तिगत जानकारी वह स्वास्थ्य के बारे में हो या आर्थिक इसे अत्यंत गोपनीय माना जाता है। फेसबुक, याहू, जीमेल आदि के जरिए ग्राहकों की जो जानकारी साइबर जगत में विद्यमान है उसकी गोपनीयता या सुरक्षा के बारे में चिंता स्वाभाविक है। यहां एक दिलचस्प सवाल यह है कि यदि कोई संप्रभु सरकार माइक्रोसॉफ्ट या गूगल अथवा फेसबुक जैसी किसी कंपनी से सामरिक सुरक्षा के नाम पर, राष्ट्रहित में या अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से संघर्ष के लिए ग्राहकों के खाते से जुड़ी कोई सूचना मांगती है, तब कंपनी का क्या उत्तर दायित्व होता है? पुस्तक का यह हिस्सा आज की राजनीति के परिपेक्ष्य में बेहद महत्वपूर्ण है। भारत में आधारकार्ड को सभी आर्थिक एवं अन्य सार्वजनिक सुविधाओं से जोड़ने के आदेश को लेकर व्यक्तिगत जानकारी की गोपनीयता को अक्षुण्य रखना संदिग्ध है। अमेरिका में खुद राष्ट्रपति ट्रंप को अपने चुनाव अभियान के दौरान रूसी साइबर हैकरों की मदद लेने के आरोप का सामना करना पड़ रहा है। इसके अलावा चीनी साइबर हमलावरों ने कई बार पैन्टागन और अमेरिकी विदेश विभाग की वेबसाइटों को पंगु बना दिया है।

जिस समय सत्यानडेला ने माइक्रोसॉफ्ट के सीईओ का पदभार संभाला उसी समय नैतिक मूल्यों वाली एक विकट चुनौती उनके सामने प्रकट हुई। स्नोडन नामक व्हिसल ब्लोअर ने अमेरिकी सरकार के अनेक गोपनीय रहस्यों का गैर कानूनी ढंग से पर्दाफाश कर दिया था। असांगे के विकीलीक्स के बाद यह एक ऐसा प्रकरण था जिसने अमेरिका जैसी महाशक्ति को स्तब्ध कर दिया। सुनोडन ने बरास्ता चीन रूस पहुंचकर शरण ली और उस पर देशद्रोह का आरोप लगाना आसान हो गया। जब सरकार ने माइक्रोसॉफ्ट तथा एपल और गूगल आदि पर इसबात के लिए दबाव डाला कि वह ऐसे अराजक तत्वों के मुकाबले संघर्ष में अपनी संप्रभु सरकार की मदद करे तो इन सभी के लिए धर्मसंकट पैदा हो गया। क्लाउड प्रणाली में जो जानकारी सुरक्षित रहती है, वह किसी एक स्थान पर नहीं होती बल्कि अनेक देशों में रखे जाने वाले सरवरयंत्रों के इन्द्रजाल के कवच में सुरक्षित रहती है। जाहिर है कि किसी एक राज्य का क्षेत्राधिकार (जूरिसडिक्शन) या कानून असरदार नहीं होगा। यदि अमेरिका अपने राष्ट्रहित में आतंकवादी से लड़ाई या राष्ट्रीय सुरक्षा के जरूरत के अनुसार इस निजी गोपनीय जानकारी को जबरन प्राप्त करना चाहती है तो इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और बुनियादी अधिकारी का उल्लंघन ही कहा जा सकता है। सत्यानडेला के लिए यह काम बड़ा कठिन था कि वह जन्मजात अमेरिकी नागरिक नहीं और खुद को उन मूल्यों का रखवाला घोषित करते हुए सरकार का यह आग्रह अस्वीकार कर ले। जिन पर अमेरिकी गणतंत्र टिका हुआ है। आंतरिक परामर्श के बाद सत्या ने सही फैसला किया। उनके अनुसार अमेरिकी गणतंत्र व्यक्तिगत निजता के अधिकार और जिन व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं की बात करता है उनके मद्दे नज़र कोई सरकार इनकी अहंलना नहीं कर सकती। यह उल्लेखनीय है कि एपल ने भी यही निर्णय लिया और आईफोन के सुरक्षा कवच को भंग करने वाली पूंजी सरकार को देने से इंकार कर दिया। प्रतियोगियों की सहकारी साझेदारी का यह एक बेहतरीन

उदाहरण था। यह कल्पनातीत है कि सरकार के दबाव को झेलने का ऐसा जीवत कोई भारतीय कंपनी दिखला सकती है।

छठे और आठवें अध्याय में सत्यानडेला ने उन 3 महत्वपूर्ण क्रांतिकारी टेक्नोलॉजी विषयक परिवर्तनों का उल्लेख किया है जो आने वाले दशक में हमारे जीवन को और मानव समाज की संरचना को आमूल-चूल बदल देंगे। इनमें पहला है— मिश्रित यथार्थ (जिसे कभी-कभी ओगूमेंटेड रियलटी भी कहते हैं) और जिसका प्रयोग अभी तक महंगे वीडियो खेलों श्री-डी फिल्मों में ही होता रहा है। इसका प्रयोग करने वाले को लगता है कि वह वास्तव में वहां नहीं है जहां उसका शरीर है बल्कि वह उस कल्पित जगत में विचरण कर रहा है जहां उसे कंप्यूटर के माध्यम से पहुंचाया गया है। रॉबोटचालित उद्योगों में जटिल उत्पादित प्रणालियों का नियंत्रण करने के लिए जिस अतिसूक्ष्म स्पर्श या चक्षु दर्शन की आवश्यकता होती है उसके लिए भी अतिरंजित यथार्थ या मिश्रित यथार्थ वाली टेक्नोलॉजी का प्रयोग होता है। इसके बाद नंबर आता है— कृत्रिम मेधा या आर्टिफिशियल इंटेलिजेन्स का। कुछ वैज्ञानिकों को लगता है कि यह एक खतरनाक 'प्रगति' है जिसमें कंप्यूटर अपने को चलाने वाले प्रोग्रामों को खुद ही संशोधित करने की क्षमता प्राप्त कर लेंगे और उन्हें किसी मनुष्य की आवश्यकता, रखरखाव, नियंत्रण या सुधार के लिए नहीं पड़ेगी। यह आशंका मुखर करने वालों में स्टीफन हॉकिंग भी एक है और इससे बिल्कुल विपरीत सोच है फेसबुक के संस्थापक जुर्कबर्ग का। अभी तक ऐसे कम्प्यूटर शतरंज के खिलाड़ी या वैसे ही दिमागी कसरत की दरकार करने वाले गो नामक चीनी खेल में माहिर मशीने हैं। अभी तक आर्टिफिशियल इन्टेलीजेन्स का अर्थ है किसी अनुभवी विशेषज्ञ की व्यक्तिगत अनुभव और उस पर आधारित अन्तरदृष्टि के अनुसार रोगनिदान या समस्या का समाधान करने लायक किसी मशीन का निर्माण। अभी कुछ वर्ष पहले तक जो काम असाध्य लगता था, वह आज घरेलू उपकरण करने लगे हैं। इस क्षेत्र में

तकनीकी क्रांति की तीसरी धारा है क्वान्टम कंप्यूटिंग की। अबतक यह माना जाता रहा है कि कम्प्यूटर कभी मनुष्य के मस्तिष्क का मुकाबला नहीं कर सकता। वह सिर्फ दैत्याकार संगणक क्षमता के कारण ही बहुत कम समय में कठिन समीकरणों को संतुलित कर सकता है या लगभग अनगिनत संभावनाओं का गणित ज्योतिष निकालकर फलित भविष्यवाणी कर सकता है। क्वांटम कंप्यूटर के आविर्भाव से यह संकेत मिलने लगे हैं कि अत्याधुनिक कंप्यूटर मानव मस्तिष्क की तरह समानांतर आंकलन करते हैं (पैरलल प्रोसेसिंग) और भले ही आज हम इस प्रक्रिया को समझने में उतना ही असमर्थ है जितना मानवमस्तिष्क की प्रक्रियाओं को। मनुष्य के मस्तिष्क में कब जीवन का स्पंगन होता है और कब उसकी मृत्यु उसे निर्जीव बना देती है यह एक अनूज रहस्य है। क्या कृत्रिम मेधा संपन्न क्वांटम कंप्यूटर निर्जीव मशीन कहा जा सकता? यह तमाम सवाल 20 वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक वैज्ञानिक कथाओं की सामग्री लगते थे, पर आज यह हमारी जिंदगी की असलियत से बहुत दूर नहीं सत्यानडेला की इस पुस्तक को पढ़ते हुए भविष्य की पदचाप साफ सुनी जा सकती है।

एकबार फिर उन बुनियादी सवालों की ओर लौटने का वक्त आ रहा है, जिन्हें साश्वत सनातन ही कह सकते हैं। मानवीय गरिमा, निजता, सुरक्षा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। जब हम कृत्रिम मेधा संपन्न मशीनों वाले समाज की बात करते हैं तो सामाजिक अनुबंध की नैतिक संरचना यथावत नहीं रह सकती और सार्वभौमिक समाज में कंपनियों की भूमिका के बारे में भी पुनर्विचार को टाला नहीं जा सकता।

इन पंक्तियों की लेखक की राय में पुस्तक के अंतिम चार अध्याय प्रतियोगी परीक्षा के छात्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। वह न केवल कुछ मूलभूत दार्शनिक सवालों को उठाते हैं, वरन सीमांती वैज्ञानिक और तकनीकी शोध के क्षेत्र में हो रहे क्रियाकलाप को समझने में भी सहायक हो सकते हैं। □□□



सेन्स एण्ड सोलिडैरीटी

झोलावाला एक्नॉमिक्स फॉर एवरीवन

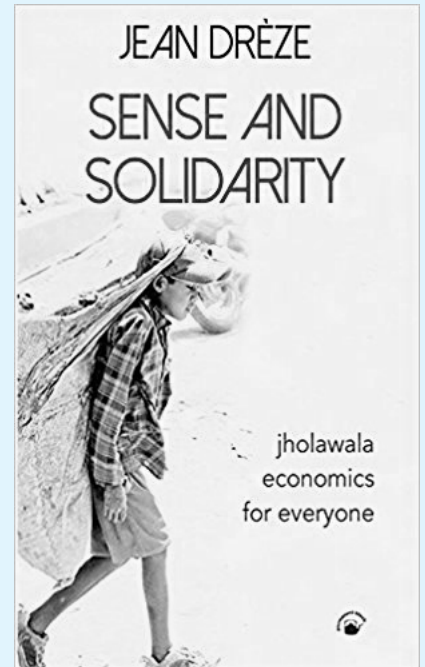
लेखक : ज्यां द्रेज

मणिकांत सिंह

पुस्तक के लेखक भारत के सबसे एक है। उनका जन्म बेल्जियम में हुआ था, परन्तु 2002 से वह भारत के नागरिक बनकर यही रह रहे हैं। उनकी शिक्षा इसेक्स में हुई जहां उन्होंने गणित पर आधारित अर्थशास्त्र का अध्ययन किया और बाद में इंडियन स्टेटिकल्स इन्स्टीट्यूट से अपनी पीएचडी पूरी की। उन्होंने पिछले 25-30 वर्षों में नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्यसेन के साथ मिलकर अनेक पुस्तकों और शोध पत्रों का प्रकाशन कराया है। उदार मानवीय अर्थशास्त्र के शोधकर्ता के रूप में उनकी ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय है। यूपी के कार्यकाल में सोनिया गांधी की अध्यक्षता में जिस राष्ट्रीय सलाहकार परिषद का गठन किया गया था उसके सदस्य भी द्रेज रह चुके हैं। सबसे दिलचस्प बात यह है कि सैद्धांतिक और सांख्यिकी वाले अर्थशास्त्र में माहिर होने के बावजूद द्रेज का तमाम शोधकार्य हाड़मांस के मनुष्यों की रोजमर्रा की जिंदगी को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर केन्द्रित रहा है और भले ही वह देश-विदेश के अनेक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर रह चुके हैं और आज भी रांची विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक है, पर उनकी बुनियादी पहचान समतापोषक समाज के लिए हमेशा संघर्षरत झुझारू आन्दोलनकारी है। दूसरे शब्दों में 'झोलेवाला लेबल' खुद उन पर पूरी तरह फिट बैठता है।

शायद इसीलिए ज्यां द्रेज ने पुस्तक की भूमिका में उपशीर्षक को समझाने की कोशिश की है। द्रेज का मानना है कि जनमानस में किसी सफल अर्थशास्त्री की जो छवि है वह बड़ी भ्रामक है। हम क्यों यह मानकर चलते हैं कि अर्थशास्त्री यूनिवर्सिटी में पढ़ाने वाला या वर्ल्ड बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं या बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रबंधकों को सलाह देने वाला सूटबूटधारी विशेषज्ञ ही हो सकता है। क्यों वह गैर सरकारी स्वेच्छक संगठनों या आन्दोलनकारियों का पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता। यह वास्तव में आज गंभीर चिन्ता का विषय है। अनेक विद्वानों की नज़र में विश्व बैंक की नीतियां कमोबेश नव-उपनिवेशवादी है और गौरे पश्चिमी पूंजीपतियों का एकाधिकार इस संसार के सीमित प्राकृतिक संसाधनों पर बरकरार रखने के लिए ही एक खास तरह की मुक्त व्यापार वाले बाजार के तर्क को मानने वाली अर्थव्यवस्था का पोषण करती है। यह अर्थव्यवस्था एक खास तरह के जनतंत्र का प्रतिपादन करती है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नाम पर एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली को प्रोत्साहित करती है जो अंततः सामाजिक विषमता को बढ़ाती है और वंचितों के असंतोष-आक्रोश को भविष्य में सर्वनाशक विस्फोट का रूप दे सकती है। स्वयं सरकार की दमनकारी नीतियों का मुखर विरोध

करने के कारण द्रेज प्रशासन का कोपभाजन बनते रहे हैं और शायद इसीलिए उन्होंने भारत की नागरिकता स्वीकार की कोई उन पर खुशहाल विदेशी आलोचक होने की तोहमत ना लगा सके। एक से अधिक बार ज्यां द्रेज बक्सर और छत्तीसगढ़ में हिरासत में लिये जा चुके हैं और शायद अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कारण ही कुछ दूसरे आन्दोलनकारियों की तुलना में निरापद रह सके। इस पुस्तक के लेखक का प्रयास हमेशा अपनी बात आम आदमी तक पहुंचाने का रहा है इसीलिए अर्थशास्त्र की शोध



पत्रिकाओं के अलावा दैनिक समाचार पत्रों में संपादकीय पन्ने पर लेख प्रकाशित कराते रहते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक सन 2000 से लेकर 2017 तक के अंग्रेजी समाचारपत्र हिन्दू में लिखे उनके लेखों का संग्रह है। यहां कुछ पाठक यह सवाल उठा सकते हैं कि क्या दैनिक अखबार में छपे 17-18 साल पुराने किसी लेख की कोई सार्थकता या संगति आज बची रहती है। जब देश और दुनिया का आमूल-चूल कायाकल्प हो चुका है। हमारी समझ में सबसे दिलचस्प बात यही है कि 8-9 सौ शब्दों से लेकर 1000 शब्दों तक के यह लेख पढ़ते हुए आज भी यह लगता है जैसे यह अभी-अभी लिखे गये हो। पुस्तक को 10 अध्यायों में बांटा गया है। पहले का शीर्षक है— सूखा और भूख। दूसरा अध्याय गरीबी पर केन्द्रित है और तीसरे का विषय है— स्कूलों में मध्यांतर में दिये जाने वाला निःशुल्क खाना। चौथा अध्याय स्वास्थ्य पर केन्द्रित है तो पांचवा अध्याय प्राथमिक शिक्षा और बाल विकास को अपनी चिंता का विषय बनाता है। छठे अध्याय में रोजगार की गारंटी के बारे में सारगर्भित विमर्श है तो सातवें अध्याय में खाद्य सुरक्षा और सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर विचारोत्तेजक टिप्पणियां की गई हैं। आठवां अध्याय क्रमशः कॉरपोरेट जगत की ताकत और टेक्नोलॉजी वाले शक्ति समीकरणों का परीक्षण करता है। तो नवा अध्याय युद्ध और शांति के उन आयामों को आलोकित करता है जिनका असर भारत की अर्थव्यवस्था और उसके बाद राजनीति को प्रभावित करते हैं। अंतिम दसवां अध्याय दस छोटे लेखों के सहारे इस कथानक को समसामयिक बनाते हैं।

यदि इन अध्यायों के शीर्षकों पर ही ध्यान दे तो यह बात एकदम साफ हो जाती है इनमें कोई भी ऐसा मुद्दा नहीं जिसे समसामयिक राजनैतिक महत्व का नहीं कहा जा सकता। आज भी देश की आबादी के एक बड़े हिस्से के लिए जीवन की सबसे

कड़वी सच्चाई है। भले ही सरकारी आंकड़े बारंबार यह दावा दोहराते रहे कि भारत के पास आज लाखों टन अनाज का भण्डार है और वह अतीत की तरह खाद्यान्नों के विदेश से आयात के लिए निर्भर नहीं। इन आंकड़ों से उन गरीबों का पेट नहीं भरता जो भूख के मारे हैं। भूख का कारण सिर्फ सूखा और अकाल ही नहीं होते, बल्कि सरकारी नीतियों की अदूरदर्शिता या इनके क्रियान्वयन में भ्रष्टाचार के कारण सैंधमारी का भी योगदान रहता है। जन सार्वजनिक वितरण प्रणाली का रोगग्रस्त होना और क्रमशः श्रय के बाद इसका अघोषित देहांत अक्सर उन लोगों की आंखों से ओझल रहता है जिनकी खुद भूखे नहीं सोने पड़ता। पुरानी कहावत है भूखा क्या पान नहीं करता? पारिवारिक मूल्यों का विघटन और समाज में नैतिक मानदण्डों में गिरावट का सीधा संबंध भूख की महामारी और असामाजिक आचरण से हैं। इसके अतिरिक्त भूख के सूत्र कुपोषण और संक्रामक बीमारियों के लाइलाज बनने से जुड़े हैं। अभी कुछ ही दिन पहले जब झारखण्ड में एक लड़की की मृत्यु राशन की दुकान से आधारकार्ड के अभाव में अनाज न मिलने के कारण सुर्खियों में आई, तब सरकार ने यह स्पष्टीकरण दिया कि मृतक भूख से नहीं मलेरिया से मरी थी। लंबे समय से भूख का शिकार कुपोषित व्यक्ति सबसे पहले रोगग्रस्त होता है और उसके मरने की आशंका सबसे अधिक होती है। ज्यादातर जब भूख को अपने पहले अध्याय का विषय बनाते हैं तो अनायास भारत की जिंदगी में— अर्थव्यवस्था और राजनीति में इसकी जटिल चुनौती को रेखांकित करते हैं।

हाल के दिनों में अक्सर यह बात चर्चित रही है कि भारत में कृषि क्षेत्र की बड़ी दुर्दशा है। भारत में उसकी विकासदर नगण्य ही नहीं, ऋणात्मक है। हम अक्सर इस बात को भुला देते हैं कि आर्थिक सुधारों के दौर में विकास के जिस मॉडल को हमने अपनाया है उसमें अत्याधुनिक कम्प्यूटर चालित यंत्रों की सहायता से उद्योगीकरण

को गतिशील बनाने को प्राथमिकता दी जाती है। खेती-बारी में भी नगदी फसलों को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। जो छोटा किसान अपने जीवन यापन भर का अनाज उगाता था, वह भी अब अपने परिवार के भरण-पोषण में असमर्थ है। औद्योगीकरण के साथ अनियोजित नगरीकरण भी बहुत तेजी से बढ़ा है। खासकर महानगरों के निकट खेती की जमीन का अधिग्रहण संरचनात्मक सुधारों और रिहायशी भवन कारखाना निर्माण आदि के लिए किया जाता रहा है। लेखक भले ही इन बातों का जिक्र भूख के संदर्भ में सीधे-सीधे नहीं करता, पर इन अनुत्तरित सवालों की अनुगूँज इस पुस्तक के पन्नों में साफ सुनी जा सकती है।

इस पुस्तक में वंचित वर्ग की संताने जिन स्कूलों में पढ़ते हैं, उनमें भूख के साम्राज्य का जिक्र गंभीरता से किया गया है जो पाठक को यह सोचने पर मजबूर करता है कि भूख का कितना गहरा नाता गरीबी, कुपोषण और कुठित बाढ़ से हैं। कुपोषित बच्चा न तो पढ़ाई में ध्यान लगा सकता है और नहीं खेल-कूद का आनंद ले सकता है। गांव-देहात के कई स्कूलों में मां-बाप अपने बच्चों का नाम सिर्फ इसलिए लिखाते हैं कि कम से कम एक वक्त का खाना तो उन्हें वहां नसीब हो जाए।

स्कूल में मिलने वाले खाने के संदर्भ में लेखक ने कुछ बड़े विचारोत्तेजक सवाल उठाये हैं जाति, धर्म और सामाजिक वर्ग के अन्तरसंबंधों से जुड़े। प्राथमिक स्कूलों में निर्धन छात्रों के लिए खाना पकवाने और उन्हें खिलाने की समस्या का समाधान काफी उलझी हुई है। सरकार जब इसका प्रबंध करती है तो कुछ अभिभावकों को यह चिंता सताने लगती है कि खाना पकाने वाला किस जाति का है, कहीं उसका पकाया खाना खाने से उसकी बच्चों की जाति भ्रष्ट तो नहीं हो जाएगी? आजादी के बाद से सरकार ने भले ही हिन्दुस्तान में छुआछूत को गैर कानूनी घोषित कर दिया है और इस कानून का उल्लंघन करने वाले

को कड़ी सजा देने का प्रावधान भी यथार्थ यह है कि जातिगत वैमनस्य और भेदभाव आज भी हमारे चेहरे पर कलंक है। इसी तरह एक-दूसरी बहस तब गरम हुई थी जब कुपोषित बच्चों को समुचित मात्रा में सस्ता प्रोटीन सुलभ कराने के लिए अड्डों को उनके मेन्यू में शामिल किया गया। कुछ कट्टरपंथी लोगों का मानना था कि अण्डों को शाकाहारी नहीं माना जा सकता और स्कूल की रसोई में इस तरह के दूषित पदार्थों का प्रवेश वर्जित होना चाहिए। यह बात तभी तक निरर्थक लगती है, जब आप यह याद न करे कि गोमांस की तस्करी के शक में ही कितने बेगुनाहों को कानून अपने हाथ में लेने वाले धर्माद लोगों ने मार डाला है। जनतांत्रिक देश में इस बात की ठेकेदारी या थानेदारी कोई भी अपने हाथ में नहीं दे सकता कि कोई दूसरा व्यक्ति क्या खाये या नहीं खाये। ज्यांज्रेज ने इसी तीसरे अध्याय में एक लेख का शीर्षक रखा है— समानता के लिए खाना। विडंबना यह है कि यदि एक स्कूल में पढ़ने वाले सभी छात्र एकसाथ एक सा खाना नहीं खाते तो फिर उनमें समानता की भावना पुष्ट कैसे हो सकती है?

ज्यांज्रेज के लिए भूख को दूर करने का सबसे ताकतवर हथियार खाद्य सुरक्षा, सुव्यवस्थित भ्रष्टाचार से मुक्त सार्वजनिक वितरण प्रणाली है। उनकी सोच में रोजगार की गारण्टी भूख से लड़ने में मददगार हो सकती है और यदि काम के बदले खाद्यान वाला कार्यक्रम ठीक से चलाया जाए तो गरीबी की सीमारेखा के नीचे रहने वाले लोगों को बहुत बड़ी राहत मिल सकती है। छठे और सातवें अध्याय में इन रोजगार गारण्टी और खाद्य सुरक्षा के बारे में कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणियां की गई हैं। लेखक स्वयं रोजगार गारण्टी स्कीम के साथ जुड़ा रहा (मनरेगा/नरेगा) एक्ट की प्रेरणा ज्यांज्रेज, निखिल डे और अरूणा राय की मित्रमंडली ने ही तैयार की थी और सह्य अनुभवों एनसी सक्सेना जैसे प्रशासकों ने इसको तराशा था। मगर तब भी ट्रेज इसबात को बेहिचक स्वीकार

करते हैं कि इसमें खामियां रह गई थी और कुछ लोग यह कहकर इसकी आलोचना करते रहे हैं कि यह बधुवा मजदूरी का दूसरा रूप है। कुछ और आलोचकों की निगाह में यह दैत्याकार भ्रष्टाचार को अंजाम देने वाली एक परियोजना थी जिसे भारतीय परिवेश में भ्रष्टाचार से मुक्त रखना असंभव था। आज भी कई लोगों को लगता है कि कुल मिलाकर इसका नतीजा यही रहा कि लोगों को रिश्वत देकर बिना काम किये वजीफा पाने की आदत ने निष्क्रिय बना दिया और जो मजदूर पहले कृषि क्षेत्र में उत्पादक श्रम के लिये दुर्लभ हो गये। रोजगार गारंटी परियोजनाओं में जिस निर्माण कार्य का बीड़ा उठाया जाता रहा है उनका लाभ किसी को नहीं होता और वह खाना पूर्ति के लिए ही किये जाते हैं। लेखक ने एक और उल्लेखनीय बात की और हमारा ध्यान दिलाया है, उसके अनुसार उत्तर भारत के राज्यों में और दक्षिण भारत के राज्यों में भूख मिटाने और सरकारी स्कूलों में तथा अस्पतालों में स्तरीय सेवायें सुलभ कराने के मामले में बहुत बड़ा अन्तर स्पष्ट दिखता है। भले ही कहीं भी यह काम पूर्णतः भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं कहा जा सकता, तब भी इस बात को नकारना कठिन है कि दक्षिण भारत में वंचित तबके की पहुंच अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों और अपने प्रशासकों तक कहीं अबाध है। गांव-देहात के नवसाक्षर भी अपने अधिकारों के प्रति जानकार और जागरूक हैं और इसी कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दुकानों से अनाज लेना हो या अस्पताल में इलाज कराना सभी क्षेत्रों में अपने को अधिक सबल और समर्थ महसूस करते हैं। ट्रेज का ऐसा मानना है कि इसका कारण सिर्फ साक्षरता या राजनैतिक चैतन्य नहीं। उसके अनुसार सबसे बड़ा फर्क इस बात का है कि दक्षिणी राज्यों में महिलायें सामाजिक जीवन में अधिक सक्रिय हैं और उत्तर-भारत की अपनी बहनों की तुलना में अधिक साक्षर हैं। अपने सहलेखक और अकादमिक सहचर अमर्त्यसेन की तरह ज्यांज्रेज का भी मानना

है कि सामाजिक परिवर्तन तभी सुनिश्चित होता है जब महिलाओं को बदलाव का सबसे सार्थक और असरदार कारक माना जाता है। अन्यथा दक्षिण भारत में भी जाति का असर कम नहीं और वहां भी केरल जैसे प्रबुद्ध समझे जाने वाले प्रदेश में सांप्रदायिक हिंसा भड़कती रहती है।

इस पुस्तक की सबसे अच्छी बात लेखक की निर्मम तटस्थता है मौजूदा सरकार के दूसरे आलोचकों की तरह उसका प्रयास यह नहीं कि सामाजिक विषमता और साम्प्रदायिक वैमनस्य के लिए मौजूदा सरकार को ही जिम्मेदार ठहराया जाए और इस पर यह आरोप लगाया जाए कि धर्म या जाति पर जोर देने के कारण ही आज की राजनीति भ्रष्ट हुई है और विकास कार्यक्रमों की गति शिथिल हुई है। जब भी ट्रेज सरकार की परियोजनाओं या कार्यक्रमों में भ्रष्टाचार के प्रदूषण की बात करते हैं या उनके खामियों की, तो वह यूपीए सरकार के कार्यकाल को बाइज्जत बरी नहीं करते। भले ही वह स्वयं यूपीए के राज में सार्वजनिक नीति-निर्धारण से जुड़े रहे। वह बेहिचक अपनी गलतियों को स्वीकार करते रहे।

अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ ज्यांज्रेज शांति समर्थक और निशास्त्रीकरण की मांग करने वाले जनांदोलनों के साथ भी जुड़े रहे हैं। उनका जीवन दर्शन मानवीय मूल्यों से प्रेरित है और उनके शोधकार्य और सामाजिक जीवन में सबसे महत्वपूर्ण प्रयोजन समतापूर्ण जनतांत्रिक समाज की स्थापना है। पुस्तक के अंतिम दो अध्याय लेखक के इन्हीं सरोकारों पर केन्द्रित हैं। युद्ध और शांति शीर्षक अध्याय को दो भागों में बांटा गया है इसका एक हिस्सा परमाणविक शस्त्रीकरण की अंधी आत्मघातक दौड़ पर केन्द्रित है जिसमें अमेरिका के साथ परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग वाले करार का विश्लेषण किया गया है और यह सुझाया गया है कि अमेरिका ने बड़े राजनयिक कौशल से भारत को साझेदारी की मरीचिका में फंसा दिया और अंततः उसे अपना मोहरा बनाने में

कामयाबी हासिल की। जाहिर है कि एक छोटे से लेख में इस जटिल विषय के सभी आयाम उद्घाटित नहीं किये जा सकते, मगर आज जब हम पीछे पलटकर देखते हैं तो यह बात छिपी नहीं रहती कि समय की आशावादिता कितनी निराधार थी। आज भी भारत परमाणविक ईंधन आपूर्ति करने वाली न्यूक्लियर सप्लाय ग्रुप मंडली का सदस्य नहीं बन सका है और परमाणविक शस्त्र-संपन्न शक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए दूसरी महाशक्तियों के समर्थन पर ही निर्भर है।

जहां तक कश्मीर का सवाल है, वह इससे कम उलझी गुथी नहीं। लेखक की सहानुभूति उन लोगों के साथ है जो आत्मनिर्णय का अधिकार मांग रहे हैं। मगर इस बात की अनदेखी कहीं ना कहीं अनायास हो रही है कि आत्मनिर्णय का यह अधिकार सिर्फ कश्मीर की घाटी में रहने वाले मुसलमानों का ही अधिकार नहीं और नहीं कश्मीर रियासत के भारतीय गणराज्य में विलय के 70 वर्ष बाद आत्मनिर्णय का अनुवाद अलगाववाद किया जा सकता है। जब लेखक यह सुझाता है कि कश्मीर में साम्प्रदायिक हिंसक आन्दोलन और लगभग नस्लवादी वैमनस्य का कृत्रिम रूप से निर्माण हुआ है, तब वह इसके लिए सरहद पार से पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवादी घुसपैठ का जिक्र करना जरूरी नहीं समझता या इसका उल्लेख भर कर आगे बढ़ता है। इसको नकारा नहीं जा सकता कि हिंसक जनक्रोश और बगावत का सामना करने में जम्मू-कश्मीर राज्य में सेना और सहसैनिक बलों को बहुधा बलप्रयोग करना पड़ता है और युद्ध जैसी स्थिति में मानवाधिकारों के उल्लंघन की घटनायें भी घटती रही हैं। विडंबना यह है कि शांति की पुनरस्थापना के लिए प्रतिबद्ध और जनतांत्रिक मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित लेखक हिंसक आतंकवादियों या उनके परिवारों के प्रति जैसी संवेदनशीलता दिखाते हैं, वैसी इनके शिकार पीड़ित परिवारों के प्रति नज़र

नहीं आती। ट्रेज ही नहीं बहुत सारे अन्य प्रगतिशील धर्मनिरपेक्ष बौद्धिक इस बात को याद नहीं रखते कि कश्मीर के संदर्भ में खासकर श्रीनगर की घाटी में मुसलमान अल्पसंख्यक नहीं और अल्पसंख्यक कश्मीरी पंडितों को वंशनाशक हिंसा का सामना करना पड़ा है और आज यह देश में अन्यत्र शरणार्थी जीवन बिताने को मजबूर है।

अंतिम अध्याय का शीर्षक है टॉपअप अर्थात् ऊपरी परत जिस तरह लस्सी के ग्लास में ऊपर से मलाई डाली जाती है कुछ उसी अंदाज में लेखक ने पुस्तक के इस हिस्से में अपने ताजा-तरीन लेखों को अपने पुराने लेखों की सामग्री के रूप में पाठक के लिए परोसा है। इनमें कुछ लेखों के शीर्षक बिल्कुल ही चालू (फोक माल को बिकाऊ बनाने वाले) अंदाज में लिखे लगते हैं। मसलन लोकप्रिय फिल्म रंगदे बसंती, या बुलेट ट्रेन सिन्ड्रोम दस लेखों वाला यह हिस्सा ही इस पुस्तक का सबसे कमज़ोर भाग है। इसमें माओवादी इलाके में मतदान के निहितार्थ तलाशने के साथ-साथ सार्वभौमिक बुनियादी आमदनी की पैमाइश और गुजरात में राजनैतिक गतिविधियों के गड्ड-मड्ड होने की पड़ताल करने का प्रयास एकसाथ किया है। विभिन्न मुद्दे आपस में अनायास नहीं जुड़ते और नहीं उनको पूर्वाग्रहग्रस्त विचारधारा ही बेमेल खिचड़ी को सुपाच्य या स्वादिष्ट बना सकती है।

इस पुस्तक को पढ़ते ही यह बात साफ होती है कि जिस तरह पेशेवर अकादमिक अर्थशास्त्री (जिन्हें लेखक सूटबूटधारी कहता है) अपनी आंखों पर चढ़े चश्मे उतारकर चीजों को नई रोशनी में देखने-परखने में असमर्थ रहते हैं, उसी तरह की कमजोरी झोलाछाप वंचितों के साथ सहानुभूति रखने वाले अर्थशास्त्री बौद्धिक की भी होती है। यह सोचना कठिन है कि घड़ी की सुइयां आज पीछे लौटाई जा सकती है। हिन्दुस्तान में ही नहीं विश्वभर में समाजवादी-साम्यवादी जीवनदर्शन

क्रांतिकारी बदलाव का अग्रदूत नहीं समझा जा सकता-माओवादी और नक्सली हिंसा कुछ जंगली इलाकों तक ही प्रतिकात्मक ढंग से जनवादी संघर्ष का परचम फहराते रह सकते हैं, पर क्रमशः संप्रभु शक्तिशाली राज्य इन पर हावी होता जा रहा है। विश्वभर में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी के खिलाफ जो माहौल है, उसके मद्देनज़र यह सुझाना नादानी है कि कश्मीर में जनक्रोश को हिंसक आन्दोलन का रूप देने वालों के लिए रत्तीभर सहानुभूति सरकारी नीतियों में परिवर्तन कर सकती है।

यह पुस्तक प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के लिए बहुत उपयोगी है, इसके दो मुख्य कारण हैं पहले तो जो विषय इस पुस्तक में उठाये गये हैं वह सभी सम्प्रामाणिक सामाजिक और आर्थिक नीतियों के संबंध में बेहद महत्वपूर्ण हैं। भूख, गरीबी, रोजगार, खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं शिक्षा का सरोकार हर नागरिक की रोजमर्रा की जिंदगी से हैं। सभी लेख 800 शब्दों की सीमा में बने हैं, भाषाशैली सरल-सरस है और लेखक ने कहीं भी अपनी विद्वता का प्रदर्शन करने के लिए आंकड़ों का मकड़जाल फैलाया है। थोड़ा सा प्रयास करने पर भी शब्दकोश की सहायता से कम अंग्रेजी जानने वाला छात्र भी इस सामग्री का भरपूर लाभ उठा सकता है। इतनी ही महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी लेख विश्लेषणात्मक हैं और अखिल भारतीय प्रतियोगी परीक्षा में किसी परीक्षार्थी का विश्लेषणात्मक अभिगम ही उसके उत्तर को दूसरे सामान्य प्रतियोगी के उत्तर से अलग और बेहतर बनाता है। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है। आदर्श छात्र के लिए यह जरूरी नहीं कि वह लेखक के निष्कर्षों से हर जगह सहमत हो, पर अधिक महत्वपूर्ण बात इस विचारोत्तेजक सामग्री के आधार पर अपनी राय बनाने की और उसे तर्कसंगत तरीके से अभिव्यक्त करने की है। □□